गांधीवाद : समाजवाद

[एक तुलनात्मक अध्ययन]

नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर

Gandhi: Samajvad.

गांधीवाद : समाजवाद

[एक तुलनात्मक अध्ययन]

T.

प्रस्तावना लेखक

with foreword by

राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद

~~Rajindra Prasad~~

Rajindra Prashad

PRATAP COLLEGE SRINAGAR

न व यु ग सा हि त्य स द न इ न्दौ र

प्रकाशक
गोकुलदास धूत
नवयुग साहित्य सदन
खजूरी बाज़ार, इन्दौर

11489

तीसरी बार : २०००
१९४५

मूल्य
दो रुपया

मुद्रक
अमरचंद्र जैन
राजहंस प्रेस
सदर बाजार दिल्ली

प्रस्तावना

इस पुस्तक में दो प्रकार के लेखों का संग्रह किया गया है। कुछ तो ऐसे हैं जो गाँधीजी क विचारों का निदर्शन कराते हैं और कुछ ऐसे हैं जो समाजवादी सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं। आज हिन्दुस्तान में इन दोनों विचार-धाराओं का संघर्ष चल रहा है और जनता दोनों का परिचय प्राप्त करना चाहती है। गाँधीजी के सिद्धान्त बहुत-कुछ क्रियात्मक रूप में सामने आये हैं, क्योंकि गाँधीजी इस बात को मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने जीवन को सुधार लेने से ही समाज सुधर जाता है और उसमें प्रचलित बुराइयाँ दूर हो सकती हैं। अगर व्यक्ति का सुधार हो गया तो साथ-ही-साथ और अनिवार्यरूप से समष्टि का सुधार हो जाता है। इसलिए उनके सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देना प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार में है और जिस अंश में ऐसे लोग हिन्दुस्तान में मिले हैं, जो उनको अपने जीवन में परिवर्तित कर सके हैं उसी अंश में उनका क्रियात्मक रूप देखा जा सकता है। समाजवाद के सिद्धान्तों को परिवर्तित करने के लिए सामूहिक शक्ति की आवश्यकता है। राजसत्ता के बिना उनका क्रियात्मक परिवर्तन एक प्रकार से असम्भव है। इसलिए समाजवाद का रूप भारतवर्ष में केवल लेखों और भाषणों में ही पाया जा सकता है।

इस पुस्तक में दोनों प्रकार के लेखों को एकत्र करके यह प्रयत्न किया गया है कि पाठक के सामने दोनों चित्र आजायं। मैं समझता हूँ कि दोनों पक्षों के सिद्धान्तों को समझने के लिए उनके समर्थकों के ही लेख अधिक उपयोगी हो सकते हैं। इसलिए पाठकों को चाहिए कि अगर वे गाँधीमत को समझना चाहते हैं तो श्री किशोरलाल मशरूवाला, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, आचार्य कृपलानी और डा० पट्टाभिसीतारामैया के लेखों में ही उनकी खोज करें। उसी प्रकार समाजवाद के सिद्धान्तों को श्री सम्पूर्णानन्द, श्री जयप्रकाश नारायण, श्री एम० एन० राय प्रभृति के लेखों से ही ढूँढ निकालें। दोनों विषय गूढ़ हैं। गांधीजी ने

अपने विचारों को पुस्तक-रूप में कहीं इकट्ठा करके प्रकाशित नहीं किया है। मगर उनके लेख और भाषण, जो समय-समय पर जनता के सामने आते गये हैं, इतने अधिक हुए हैं कि वे कई हजार पृष्ठों को भर सकते हैं। समाजवाद पर तो इस देश में और विदेशों में अनगनित पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। इन सबका सारांश मात्र भी विशेषकर, जब उनमें मानव-जीवन के सभी पहलुओं पर रोशनी डालने का प्रयत्न किया गया है, इस छोटी-सी पुस्तक में समाविष्ट करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। तो भी जो मौलिक बातें इस पुस्तक में आ गई हैं, वे दोनों विचार-शैलियों के भेद और सामञ्जस्य का अच्छा परिचय दिलाती हैं। इसमें कई लेख विवादात्मक शैली पर ही लिखे गये हैं और इसलिए उनमें उतनी सैद्धान्तिक गहराई नहीं है तो भी आज की परिस्थिति में उनका उपयोग है और वे एक न्यूनता दूर करते हैं। आशा है, पाठक इससे यथोचित लाभ उठायेंगे।

हरिजन बस्ती, दिल्ली
१-३-३९

राजेन्द्रप्रसाद

विषय-सूची

१. गाँधीवाद : समाजवाद —श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला	१
२. समाजवाद या समाजधर्म—श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला	१७
३. सर्वोदय—श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला	२३
४. गाँधीवाद : समाजवाद—श्री हरिभाऊ उपाध्याय	२६
५. गाँधीजी का मार्ग—श्री आचार्य कृपलानी	५०
६. गाँधीवाद : समाजवाद—डॉ० पट्टाभिसीतारामैया	७३
७. गाँधीवाद और समाजवाद—श्री के० सन्तानम्	८७
८. समाजवाद और सर्वोदय—श्री नरहरि परीख	६५
६. गाँधी-नीति—श्री० जैनेन्द्रकुमार	११४
१० समाजवादी व्यवस्था—श्री सम्पूर्णानन्द	१२७
११. गाँधीवाद बनाम समाजवाद—श्री जयप्रकाशनारायण	१३६
१२. गाँधीवाद या मार्क्सवाद—श्री राहुल सांकृत्यायन	१४८
१३. गाँधीवाद और समाजवाद—श्री एम० एन० रॉय	१४६
१४. गाँधीवाद और समाजवाद—श्री सम्पूर्णानंद	१६५
१५. गाँधीवाद और साम्यवाद—श्री विचित्रनारायण शर्मा	१७२
१६. उपसंहार : संघर्ष या समन्वय ?—श्री काका कालेलकर	१८१

: १ :

गांधीवाद : समाजवाद

[श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला]

कई मित्रों ने बार-बार मुझसे आग्रह किया है कि मैं इस विषय की विस्तारपूर्वक चर्चा करूं। किंतु स्वयं मुझे इस चर्चा को चलाने में बहुत दिलचस्पी नहीं थी, यही नहीं, बल्कि बहुधा मैंने इसे शान्त करने का प्रयत्न किया है। कारण, शास्त्रार्थ की चर्चा में हम लोगों की इतनी ज्यादा दिलचस्पी बढ़ गई है कि एक तरह इसे हम अपने पीछे लगा हुआ एक व्यसन या रोग भी कह सकते हैं। वाद-विवाद के नशे में प्रायः हमें इसका ख़याल ही नहीं रहता, कि इन विवादों का व्यावहारिक परिणाम क्या हो सकता है। और चर्चा के विषय ही ऐसे हैं, कि क़यामत के दिन तक इनकी चर्चा करते रहें, तब भी शायद इनके विषय में सबका एक-मत नहीं होगा।

दूसरे, एक हद तक इन चर्चाओं की असल बुनियाद ही अभी अनिश्चित है। इसीसे ये चर्चायें अक्सर बेमुद्दा और बेबुनियाद-सी बन जाती हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम 'गांधीवाद' का विचार करें, तो गांधीजी इसके बारे में स्वयं इस प्रकार कहते हैं :—

" 'गांधीवाद' नाम की कोई वस्तु है ही नहीं; और न मैं अपने पीछे कोई सम्प्रदाय छोड़ जाना चाहता हूँ। मेरा यह दावा भी नहीं है कि मैंने किसी नये तत्त्व या सिद्धान्त का आविष्कार किया है। मैंने तो सिर्फ जो शाश्वत सत्य हैं, उनको अपने नित्य के जीवन और प्रतिदिन के प्रश्नों पर अपने ढंग से उतारने का प्रयासमात्र किया है।........ जो राय मैंने क़ायम की है, और जिन निर्णयों पर मैं पहुँचा हूँ, वे भी अन्तिम नहीं हैं। हो सकता है, मैं कल ही उन्हें बदल दूँ। मुझे दुनिया को कोई नई चीज़ नहीं सिखानी है। सत्य और अहिंसा अनादि काल से चले आये हैं। मैंने तो जहाँतक मैं कर सका, इन दोनों के अपने जीवन में प्रयोगभर

किये हैं। ऐसा करते हुए कई बार मैंने ग़लती भी की है, और उन ग़लतियों से मैंने सीखा भी है। मतलब जीवन और उसके प्रश्नों द्वारा मुझे सत्य और अहिंसा के आचरणगत प्रयोग करने का अवसर मिल गया है। स्वभाव से मैं सत्यवादी तो था, किन्तु अहिंसक न था........सत्य की उपासना करते-करते ही मुझे अहिंसा भी मिली है।

"ऊपर जो कुछ मैंने कहा है, उसमें मेरा सारा तत्त्वज्ञान, यदि मेरे विचारों को इतना बड़ा नाम दिया जा सकता हो तो, समा जाता है। आप उसे 'गांधीवाद' न कहिए; क्योंकि उसमें 'वाद' जैसी कोई बात नहीं है।"[१]

जिनके नाम से 'वाद' चलता है, वह स्वयं यदि अपनी मनोवृत्ति को इस प्रकार उपस्थित करते हैं तो जो लोग उनकी या उनके नाम की छाया के नीचे रहकर सेवा करने का प्रयत्न कर रहे हैं, उनका एक दूसरे 'वाद' के प्रचारकों के साथ विवाद में उतरना कितना अनुपयुक्त होगा और उसकी नींव कितनी कच्ची होगी!

अच्छा, अब यदि समाजवाद का विचार करते हैं, तो उसके भी सिद्धान्तों ने अभी कोई निश्चित और सर्वमान्य स्वरूप धारण नहीं किया है। उसका दावा है कि वह एक तत्वदर्शन है; किन्तु तत्त्वदर्शन होते हुए भी अभी वह बाल्यावस्था में ही है। लेकिन चूँकि उसका दावा तत्त्वदर्शन का है, इसलिए मानवजीवन से सम्बन्ध रखने वाली सभी प्रवृत्तियों—धार्मिक, नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक—पर विचार करने का उसमें प्रयत्न किया गया है, और पण्डित जवाहरलाल नेहरू के कथनानुसार—

"जीवन और उसके प्रश्नों के सम्बन्ध में समाजवाद का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। अतः वह कोरे तर्क से भिन्न एक निराली वस्तु है। इस प्रकार आनुवंशिकता के, लालन-पालन के, और भूतकाल तथा वर्तमान काल की परिस्थिति के अदृश्य प्रभाव से जिस मनोवृत्ति का निर्माण होता है, वह भी विशिष्ट प्रकार की होती है।"[२]

१. हरिजनबन्धु, २६-३-१६३६। २. 'मेरी कहानी' से।

चूँकि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, समाजवाद अभी अपनी बाल्यावस्था में है, इसलिए स्वभावतः उसमें भिन्न-भिन्न समाजवादियों के बीच काफी मतभेद है। यूरोप में तो समाजवाद के अनेक पन्थ बन गये हैं। और हिन्दुस्तान में भी दो-तीन पन्थ तो हैं हीं। यह भी हो सकता है कि एक ही पंथ के समाजवादियों में भी छोटे-बड़े मतभेद हों। अतः संभव है कि कोई आदमी समाजवाद के किसी अंग का समर्थन या खण्डन करने चले और उसका विरोधी सामने से यह कहे कि उसकी दृष्टि में वह अंग तात्त्विक नहीं है, अथवा उसका कोई महत्त्व नहीं है, या उसके विषय में उसका कोई मतभेद नहीं है। उदाहरण के लिए पण्डित जवाहरलालजी जैसे प्रसिद्ध समाजवादी को ही लीजिए। ता० ७-१०-१९३६ के 'बोम्बे क्रॉनिकल' में कुमारी प्रेमाबहन कण्टक के नाम उनका एक पत्र छपा है। इस पत्र में वह लिखते हैं—

"—विवाह का या स्त्री-पुरुष-विषयक प्रश्नों का स्वयं-सेवक या समाजवादी बनने के साथ क्या सम्बन्ध है? अपने व्यापक अर्थ में समाजवाद जीवन से संबन्ध रखनेवाला एक तत्त्वदर्शन है और इसलिए जीवनसंबंधी सब बातों में उसका समावेश हो सकता है। किन्तु साधारणतः समाजवाद-का अर्थ है, आर्थिक व्यवस्था संबन्धी एक विशिष्ट सिद्धान्त। जब मैं समाजवाद की चर्चा करता हूँ, तो मेरे सामने यह आर्थिक सिद्धान्त ही होता है। और इसलिए समाजवाद के सिलसिले में धर्म, विवाह, और नीति-विषयक जो चर्चा की जाती है, वह बिलकुल बेमतलब है।"

सम्भव है कि दूसरे समाजवादियों की ठीक यही राय न भी हो। मतलब यह है कि इस परिस्थिति में 'गांधीवाद' और समाजवाद के नाम पर जो कि दोनों अभी पूरी तरह समझे नहीं गये हैं, इस प्रकार की जो चर्चायें चलाई जायँगी, उनसे शायद ही विचारों का कोई स्पष्टीकरण हो सकेगा। हाँ, इनके कारण दो दल तो जरूर बन जायँगे, लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि इन दलों के विचारों में कोई स्पष्टता हो। सिर्फ यह हो सकता है कि किसी शब्द या सूत्र के विषय में उनकी रुचि या अरुचि स्थिर हो

जाय, और उसके आधार पर उन्हें अपने स्थानीय क्षेत्रों में अन्दर-अन्दर लड़ते रहने की प्रेरणा मिला करे। साथ ही, यदि दो में से एक भी पक्ष के सामने अपना कोई निश्चित और तात्कालिक कार्यक्रम न हो और वे उसपर अमल करने को कटिबद्ध न हों, तो इस तरह की चर्चाओं से, न चर्चा करने वालों को, न जनता को ही उनसे कोई लाभ होगा, मगर, जो इन दोनों पक्षों को कुचल देना चाहते हैं, ये उन्हींके हाथ के अनुकूल साधन बन जायँ। हमारी इन चर्चाओं के परिणामस्वरूप हमारे ये विपक्षी दूरदर्शिता से काम लेकर पहले ही होशियार हो जायँ, और अपने संगठन को मजबूत बना लें। क्योंकि उनके सामने जनता की नहीं, अपने ही हित की दृष्टि प्रधान होती है, और उनकी संख्या कम और उस अनुपात में साधन-सामग्री अटूट होती है; अतः अपने दल को दृढ़ बना लेना उनके लिए अपेक्षाकृत सरल होता है। इसके सिवा हुकूमत भी उनकी पीठ पर होती है। अतएव नतीजा यही निकल सकता है कि लड़नेवाले दो पक्षों में से पहले एक का और फिर दूसरे का दमन शुरू हो जाय। इधर अनजाने ही क्यों न हो, किन्तु जो लोग जोश में आकर बार-बार ऐसी शास्त्रीय चर्चाओं में भाग लेते हैं, हो सकता है कि इन चर्चाओं के कारण उनके दिल एक दूसरे से खिन्न जायँ और उनमें एक दूसरे के प्रति वैमनस्य पैदा हो जाय। इस कारण जब एक का दमन होता हो, तो दूसरा पक्ष जान बूझकर नहीं, तो अनजाने उस दमन का साधन बन जाय, अथवा साधन न बनने पर भी तटस्थ दर्शक बनकर खड़ा रहे। इन दोनों अवस्थाओं से देशहित की तो हानि ही हो सकती है।

इसका यह आशय नहीं कि देश के नानाविध प्रश्नों के बारे में हमारे विचारों का अधिक-से-अधिक स्पष्ट होना इष्ट नहीं है। असलियत यह है कि हमारे देश की जो अनेक समस्यायें हैं, उनमें कुछ ऐसी हैं, जिनके विषय में तुरन्त ही हमारे विचार स्पष्ट और हमारी निष्ठा दृढ़ हो जानी चाहिए, कुछ ऐसी समस्यायें भी हैं, जिनपर इच्छा होते हुए भी, आज की स्थिति में, साधारणतः बुद्धिमान गिने जानेवाले लोग, भी,

परिश्रमपूर्वक विचार करने का प्रयत्न करके भी, किसी स्पष्ट विचार तक नहीं पहुँच सकते हैं; फिर उसके प्रति दृढ़निष्ठ बनने की तो बात ही क्या ? कारण यह है कि जीवन के व्यवहारप्रधान प्रश्नों पर स्पष्ट विचार के लिए जनसाधारण के सामने कुछ बातें बहुत ही स्थूल रूप में प्रकट होनी चाहिएँ। जबतक इस प्रकार का स्थूलदर्शन उन्हें नहीं होता तबतक उस विषय के विचार उनकी बुद्धि में प्रवेश ही नहीं कर पाते। और यदि तर्क से वे कुछ समझ भी गये, तो उसके कारण उनमें निष्ठा की वह दृढ़ता नहीं पैदा होती, जो एक शक्ति बन सके। अतएव ऐसे प्रश्न वाद-विवाद द्वारा समझाये और स्पष्ट नहीं किये जा सकते। इन्हें समझने के लिए इनका अधिक परिपक्व होना आवश्यक है।

इस दृष्टि से यदि हम देश-विषयक समस्याओं के तत्काल और अनिवार्य, तथा दूरगत, ऐसे दो भेद करदें तो, मेरे विचार में हमारे देश को स्वतन्त्र करने के लिए नीचे लिखी बातें सर्वप्रथम और तात्कालिक महत्त्व की ठहरती हैं, और यह जरूरी है कि इनके सम्बन्ध में हमारे विचारों में किसी भी प्रकार की अस्पष्टता, संदिग्धता या कच्चापन न रहे। क्योंकि इसके अभाव में विचारों की सारी स्पष्टता और तर्कशुद्धता उन शून्यों की तरह है, जिनके पहले कोई अंक नहीं रहता। वे बातें इस प्रकार हैं: —

१. जबतक देश की सेवा के लिए तन, मन और धन अर्पण करके अपना जीवन कुर्बान करने की तैयारी वाले स्त्री-पुरुष हज़ारों की संख्या में उत्पन्न न होंगे, तब तक कुछ भी सिद्ध होनेवाला नहीं।

२. ऐसे लोगों में भी यदि चरित्र की दृढ़ता और ध्येय की निष्ठा न हुई, तो कोई बल या फल उत्पन्न होने वाला नहीं।

३. साधारण आत्मसुखपरायण तरुणों में इन्द्रियों के भोगों और जीवन के प्रति जो रस रहता है, उन रसों से जिन्हें अरुचि नहीं है, और उन्हें जीतने के लिए जिनका आत्म-संयम और इन्द्रिय-निग्रह के साथ आग्रहपूर्ण प्रयत्न नहीं है, उन स्त्री-पुरुषों में चारित्र्य की दृढ़ता या ध्येय

की निष्ठा नहीं आ सकती; यदि आज आई हुई प्रतीत होती हो, तो भी वे ध्येयप्राप्ति तक टिकनेवाली नहीं होती।

४. हमें यह तो स्पष्ट ही समझ लेना होगा, कि स्वराज मिलने से पहले, अर्थात् आज, जितने लोग देश-सेवा के विविध क्षेत्रों में हैं, उनमें प्रतिवर्ष अधिकाधिक संख्या में आजीवन सेवकों और सेविकाओं की वृद्धि होती रहनी चाहिए। और इनका बड़ा भाग उन लोगों में से आना होगा, जो सम्पन्न या ग़रीब मध्यम श्रेणी के हैं। इन लोगों कों सांसारिक दृष्टि से अधिक सादगी, गरीबी और कठिनाई वाला और शारीरिक दृष्टि से श्रमयुक्त जीवन बिताना होगा। अतएव यदि हमारे युवकों और युवतियों के जीवन और चरित्र का निर्माण इस तरह न हुआ कि जिससे वे ऐसे जीवन के लिए तैयार हों, तो स्पष्ट है कि हमारा स्वतंत्रता का ध्येय कभी सिद्ध न हो सकेगा। सम्भव है, इस कथन पर, कि स्वतंत्र दृष्टि से भी सादा और श्रमयुक्त जीवन ही इष्ट है, हमें आपत्ति हो। किन्तु इस बात में तो किसी को जरा भी शंका न रहनी चाहिए कि हिन्दुस्तान के स्वराज की प्राप्ति के लिए यह पहली और अनिवार्य शर्त है।

सम्भव है, ये बातें बहुत अरुचिकर और कठिन मालूम हों। किन्तु मैं समझता हूं कि जिनके अन्दर देश को स्वतंत्र करने की सच्ची लगन है, वे गांधीजी के तरीकों को मानने वाले हों, या समाजवाद के सिद्धान्तों से प्रेम रखने वाले हों, या इन दोनों से भिन्न किसी तीसरे मार्ग के अनुयायी हों, उनके लिए और सब बातों की सचाई की अपेक्षा इन बातों की सचाई को पहचानने, इनकी कद्र करने और इनके लिए कमर कसकर तैयार हो जाने की ज़रूरत है। जीवन का विचार करने वाला कोई भी तत्वज्ञान चाहे वह आध्यात्मिक सिद्धान्त के नाम से पुकारा जाता हो, या भौतिक सिद्धान्त के नाम से, यदि संयम, इन्द्रिय-निग्रह और स्वेच्छा-पूर्वक स्वीकार की हुई सादगी (जिसे दूसरे शब्दों में अस्तेय, अपरिग्रह, अलोभ अथवा गरीबी का व्रत कहा जा सकता है) के प्रति तुच्छता या तिरस्कार का भाव रखता हो, और तरुण प्रजा के मन में इंद्रियाभिमुख भोग-लोलुप जीवन की

वासनाओं को बढ़ाता हो, तो उसका एक ही परिणाम होगा और वह यह कि स्वतंत्रता का दिन और और आगे ठिलता चला जायगा। यह सिद्धान्त एक सचाई है। इसे हम जल्दी समझें, या देर से समझें, समझना तो पड़ेगा ही। जल्दी समझने में कल्याण है, देर से समझने में जोखिम है, क्योंकि हो सकता है, हम इतनी देर में समझें कि उसके बाद समझते हुए भी हाथ मलकर रह जाना पड़े—बाजी हाथ से निकल चुके। और यह तो निर्विवाद है कि संयमी, इन्द्रियजित और सादा जीवन बिताने वाली जनता के बल पर ही देश स्वतंत्र और समृद्ध बन सकेगा।

: २ :

अब जिनकी बुद्धि या हृदय गांधीजी के विचारों तथा मार्गों के प्रति विशेष आकृष्ट होता है, उनसे दो-चार बातें मैं कहना चाहता हूँ। गांधीजी के विचारों—अथवा कहिए, पद्धतियों—में कुछ तत्त्व तो ऐसे हैं, जो अचल कहे जा सकते है, जो लोग उनके जीवन या उपदेश से प्रेरणा या मार्ग-दर्शन चाहते हैं, उनके लिए वे आचरणीय हैं।

इस प्रकार का पहला अचल-तत्त्व यह है, कि जीवन की सभी समस्याओं का विचार और हल सत्य, अहिंसा और सेवा द्वारा ही करने का प्रयत्न होना चाहिए।

इसमें सत्य, अहिंसा और सेवा, ये तीन अंग या मर्यादायें कही गई हैं। इनका क्रमशः अलग अलग विचार करना ठीक होगा।

'सत्य' में नीचे लिखी बातों का समावेश होता है—पूर्वग्रह से दूषित न होना, किन्तु सत्य को मानने के लिए सदा तैयार रहना, और इस कारण असत्य से, फिर वह कितना ही पुराना और बहुमान्य क्यों न हो, और उसमें हम कितने ही आगे क्यों न बढ़ चुके हों, वापस लौटने में भय और लज्जा न रखना, और साथ ही, जिस समय जिस बात के बारे में सत्यता का विश्वास हो, उसके लिए अपना सर्वस्व खोने को तैयार रहना।

'अहिंसा'—इसका अर्थ होता है हर प्रकार के अधर्म का—गांधीजी

SRI PRATAP COLLEGE LIBRARY
SRINAGAR.

की भाषा में कहें तो—पशुबल से नहीं, बल्कि 'आत्मबल' से विरोध करना। गांधीजी कई बार समझा चुके हैं कि अहिंसा कोई निष्क्रिय अभावात्मक मनोवृत्ति नहीं है, बल्कि वह प्रवाह के विरुद्ध चलने की एक क्रियात्मक और भावना-प्रधान प्रवृत्ति है। दुनिया में हिंसा का प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है। और बुद्धि तथा विज्ञान की सहायता से उसकी पद्धतियों को पूर्णता तक पहुँचाने और हिंसा का एक शास्त्र तैयार करने के प्रयत्न सदियों से हो रहे हैं। जिसका हिंसाबल विपक्षी के हिंसाबल की अपेक्षा अधिक संगठित, सुधरा हुआ और साधन-सम्पन्न होता है, उसके लिए हिंसा द्वारा अपने भौतिक ध्येय को सिद्ध करने का मार्ग खुला है ही। ऐसी कोई बात नहीं है कि इस बल का उपयोग केवल अधर्म और अन्याय के विरुद्ध ही हो सकता है। इसमें तो जो ज्यादा बलवान होता है, वही जीतता है, फिर भले उसका पक्ष अधर्म का ही क्यों न हो, इसका एक ताजा उदाहरण इटली-अबीसोनिया का युद्ध है। अगर विपक्षी अधिक बलवान है, तो स्पष्ट है कि इस मार्ग का अवलम्ब करने से हानि-ही-हानि होगी। अतएव आध्यात्मिक दृष्टि को भुलाकर केवल व्यावहारिक दृष्टि से सोचें, तब भी यह सिद्ध होता है कि जिन साधनों में विपक्षी हमसे अधिक बलवान और कुशल है, उन साधनों का उपयोग करने की लालच में न पड़कर एक बिल्कुल नये प्रकार के साधन की शोध करना, उसका विकास और सशोधन करके उसे सम्पूर्ण बनाना और उसके प्रयोग में कुशलता प्राप्त करना आवश्यक है। अहिंसा अथवा प्रेम में—अर्थात् विपक्षी को दण्ड देकर नहीं, किन्तु स्वयं कष्ट सहकर उसे जीतने की रीति में—जो शक्ति है, वह है तो हिंसा के जितनी ही पुरानी, किन्तु अभी योग्य अनुशीलन द्वारा उसका सम्यक्-विकास नहीं किया गया है। वैज्ञानिकों का कथन है कि गुरुत्वाकर्षण का नियम संसार को पहले-पहल न्यूटन ने दिया। इसका यह अर्थ नहीं कि न्यूटन ने ही पहले-पहल गुरुत्वाकर्षण की शक्ति का और उसके प्रयोग के नियमों का निर्माण किया। गुरुत्वाकर्षण का नियम तो न्यूटन से पहले भी संसार में मौजूद

था और लोग उसे बिना जाने, बिना उसका नाम रक्खे व्यवहार में उससे लाभ उठाते थे। किन्तु लोगों को उसका विधिवत् ज्ञान न था, और गणित के नियम न बने थे। न्यूटन ने इन नियमों का पता लगाया और इन्हें दुनिया को समझाया। उसके परिणामस्वरूप अनेक वैज्ञानिक आविष्कार किये गये, और अनेक सुधरी हुई कार्य-पद्धतियों का जन्म हुआ। अहिंसा को गांधीजी का 'आविष्कार' कहें तो वह इसी तरह का हो सकता है। अहिंसा या प्रेम नाम की कोई ऐसी नई शक्ति, जो पहले संसार में थी ही नहीं, उन्होंने पैदा नहीं की है। यह शक्ति तो संसार में आदिकाल से रही है, और जाने-अनजाने उसका उपयोग भी होता रहा है। इसका तो नाम और स्वरूप भी अज्ञात न था। कुछ क्षेत्रों में इसका ज्ञानपूर्वक उपयोग भी हुआ है, और सैंकड़ों पुरुषों ने इसकी महिमा का वर्णन किया है। किन्तु इस श्रद्धा के साथ कि हिंसा के समान ही इसका भी नानाविधि उपयोग और विकास हो सकता है, यह एक बलवान शक्ति है, और इसके गर्भ में अनेक प्रसुप्त और अनाविष्कृत विद्यायें (प्रयुक्तियां) होनी चाहिएँ, गांधीजी ने अपने जीवन में इसे संशोधित और विकसित करने का प्रयत्न किया, और आज भी कर रहे हैं। हिंसा के क्षेत्र में सशस्त्र मोटर (टैंक) मशीनगन, विमान, विषैली वायु, बम आदि मनुष्य को मारने और पीड़ने की अनेक विद्याओं (प्रयुक्तियों) का तथा इसकी सहायता के लिए गुप्तचर-विद्या, रिश्वतखोरी, झूठे प्रमाण, झूटेप्रचार आदि अनेक असत्यात्मक उपकरणों का जो विकास हुआ है, वह भी कोई आजकल की मेहनत का नहीं, युगों की मेहनत का प्रणिाम है, और उसके पीछे हज़ारों बुद्धिमान् मनुष्यों की अपार शक्ति और अनन्त धन खर्च हुआ है। यदि अहिंसा की शक्ति का विकास करना हो, तो उसके लिए श्रद्धावान तथा दृढ़ लगन वाले संशोधकों की सेवा समर्पित होनी चाहिए। अतएव जिन्हें गांधीजी के मार्गों में श्रद्धा है, उनके सामने एक स्पष्ट जीवन-कार्य तो है ही। यह कि अपने जीवन के विविध कार्यों में बुद्धिपूर्वक अहिंसा का प्रयोग करके उसमें विद्यमान प्रसुप्त शक्तियों का पता लगाने और उनका विकास

करने में अपनी ओर से सहायता पहुँचाना। शस्त्रों के आविष्कार में पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्र की दृष्टि आवश्यक होती है, अहिंसा के संशोधक में प्रेम के उस अटूट भण्डार की आवश्यकता है, जो वेगवान और क्रियावान होते हुए भी स्वार्थ और मोह से रहित हो। यह नहीं, कि इसके लिए बुद्धि की कुशाग्रता आवश्यक नहीं है। है; किन्तु यदि संशोधक का प्रेमकोष खाली हो, तो अकेली बुद्धिशक्ति उसके कार्य में बहुत सहायक नहीं हो सकती।

गांधीजी की पद्धति का तीसरा अचल तत्त्व **'सेवा'** है। वास्तव में यह कोई पृथक् अंग नहीं है, बल्कि सत्य और अहिंसा के एकत्र प्रयोग में से ही यह पैदा होता है। व्यावहारिक दृष्टि से इसका सीधा मतलब यह है कि यदि जनता की सीधी और प्रत्यक्ष सेवा के किसी कार्यक्रम पर अमल न होता हो, तो सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि विषयों पर विद्वत्तापूर्ण और भक्तिपूर्ण पुस्तकों, प्रवचनों या कीर्तनों द्वारा गांधीजी के तत्त्वों या उपदेशों का प्रचार, या सत्य और अहिंसा की शक्तियों का विकास नहीं किया जा सकता। लेख, भाषण आदि प्रचार के साधन यंत्रों के समान हैं। यंत्र की तरह वे स्वयं निर्दोष हैं—अथवा अधिक सच्चे विशेषण का उपयोग करें, तो निर्गुण या गुण-दोषहीन हैं—पर, आज की परिस्थिति में उनपर अहिंसा के उपासकों की अपेक्षा हिंसा के उपासकों का विशेष प्रभुत्व है। इसलिए वे उनका अपने हित के लिए अधिक सरलता से उपयोग कर सकते हैं। अतः जिन साधनों का हम उपयोग करें वे एकदम अनोखे और स्वतंत्र ही होने चाहिएँ। और ऐसा साधन है, मूक तथा ज़रूरत हो तो जानबूझ कर अप्रकाशित रक्खी हुई प्रत्यक्ष सेवा।

समाज की किसी भी उलझी हुई समस्या के निराकरण के लिए ऊपर के अंगों को ध्यान में रखकर ही कार्य-क्रम की कोई दिशा निश्चित की जा सकती है। इसे आप गांधीजी की मर्यादा कहना चाहें, तो यह उनकी मर्यादा है। असल में तो ये मर्यादायें नहीं, बल्कि मनुष्य जाति के हित-संवर्धन की अनिवार्य शर्तें हैं। इन शर्तों का ध्यान रखकर गांधीजी के

विचारों के अचल तत्त्वों का शोध करने से मालूम होता है कि जनसाधारण का—बल्कि सब प्रकार के निर्बलों का—सबलों द्वारा जो शोषण और वंचना (ठगाई) होती है, उनके प्रति उनका विरोध किसी भी समाजवादी के समान ही तीव्र है; यही नहीं, बल्कि उनके प्रयत्नों के पीछे धनी और अधिकारी-वर्गों द्वारा होनेवाले शोषण और वंचना को रोकनेभर की ही अभिलाषा नहीं है, बल्कि बुद्धिमान लोग बुद्धिहीनों से जो अनुचित लाभ उठाते हैं, उसका प्रतिकार करने की भी इच्छा है। अर्थात्, यदि शोषण और वंचना को रोकने का कोई सत्याग्रही उपाय उन्हें मिल जाय, तो किसी भी प्रकार के निर्बल वर्ग की किसी भी प्रकार के सबल वर्ग द्वारा की जानेवाली हानि को वे एक दिन के लिए भी सहन नहीं करेंगे।

शोषण और वंचना को रोकने का प्रश्न निजी सम्पत्ति के प्रश्न से जुड़ा हुआ है, और प्रायः यह माना जाता है कि ये दोनों एक ही हैं। 'गांधीवाद'-समाजवाद की चर्चाओं में अधिकतर इस पर गरमागरम वाद-विवाद होता है। सच पूछा जाय, तो इस विषय में गांधीजी के विचार कदाचित् उग्र-से-उग्र साम्यवादी (कम्युनिस्ट) की अपेक्षा भी आगे बढ़े हुए हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार तो किसी भी मनुष्य के पास किसी भी प्रकार का परिग्रह न होना चाहिए। सम्पत्ति के व्यक्तिगत परिग्रह को वे सह लेते हैं, इसका यह कारण नहीं है कि उन्हें सम्पत्ति या परिग्रह का मोह है, अथवा यह कि मनुष्यजाति के उत्कर्ष के लिए वे सम्पत्ति के संग्रह को आवश्यक समझते हैं; बल्कि कारण यह है कि व्यक्तिगत परिग्रह बढ़ाने और जुटाने की प्रथा को मिटाने का कोई सत्याग्रही मार्ग उन्हें अभीतक मिला नहीं है। मेरा खयाल है कि सभी पंथों के समाजवादी मनुष्यजाति के सुख के लिए धन-सम्पत्ति के संग्रह को और उसकी विपुलता को आवश्यक ही मानते हैं। गांधीजी इसे सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं करते। आज पसीना बहाकर आज का भोजन पाने और कल के लिए कल फिर पसीना बहाने की तैयारी रखने के आदर्श में किसी समाजवादी को श्रद्धा नहीं है; पर गांधीजी को है। लेकिन यह तो आदर्श

की बात हुई। व्यावहारिक दृष्टि से इसका विचार करते हुए गांधीजी इस बात को समझते हैं कि आज ही उस समय की कल्पना कर लेना सभव नहीं है, जबकि मनुष्यजाति परिग्रह छोड़ने को तैयार हो जायगी। अतः विचार के लिए सिर्फ़ इतनी ही बात रह जाती है कि जिन लोगों के कब्ज़े में या अधिकार में धन-सम्पत्ति का भण्डार प्रत्यक्ष हो, वे उसे किस दृष्टि से अपने पास रक्खें, अथवा किन शर्तों पर उसे उनके पास रहने दिया जाय? गांधीजी कहते हैं, कोई भी सम्पत्ति किसी एक व्यक्ति के अधिकार में हो या अनेक व्यक्तियों से बने किसी मण्डल के अधिकार में हो, और वह अधिकार उन्होंने उस समय के क़ायदे के अनुसार पाया हो, या ग़ैरकानूनी तौर पर पाया हो, लेकिन वे उसे अपने पास अपने निजी उपयोग के लिए नहीं, बल्कि समाज की ओर से समाज के उपयोग के लिए ही रख सकते हैं; अर्थात् उन्हें और दूसरों को समझना चाहिए कि वे उस सम्पत्ति के 'ट्रस्टी' या संरक्षक हैं। इस 'ट्रस्टी' शब्द के कारण कुछ ग़लतफ़हमी पैदा हो गई है। इसकी भी वजह तो यह है कि अभी तक लोग इस बात को समझने के आदी नहीं हुए हैं, कि गांधीजी जब कुछ कहते हैं, तो, जो कुछ कहते हैं, उसके पूरे-पूरे अर्थ पर जोर देकर ही कहते हैं। गांधीजी के शब्दों को भी राजनीति के मुसद्दियों और वक्ताओं की तरह समझने की भूल की जाती है। अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने कई बार कहा है कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार का अस्तित्व भारतीय जनता के कल्याण के लिए और उसके ट्रस्टी के रूप में है। लेकिन हमें अनुभव तो यह हुआ है कि इस भाषा के अनुसार आचरण करने की उनकी रत्ती भर भी नीयत नहीं है। अतएव अब हम समझ चुके हैं कि इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करके निरे दम्भ और भटैती-भरे शब्दों द्वारा हमें भुलावे में डालने की ही उनकी नीयत होती है। गांधीजी पर भी यह शक किया जाता है कि सम्पत्तिवालों का पक्ष लेने के लिए ही वे इस प्रकार की दम्भपूर्ण भटैती किया करते हैं। पहले एक बार ऐसा हो भी चुका है। गोलमेज़ परिषद् में जब गांधीजी ने यह घोषित किया कि हरि-

जनों को हिन्दुओं से पृथक् करने के प्रयत्न का वह प्राणपण से विरोध करेंगे, तो उनके इन शब्दों पर किसी ने बहुत ध्यान नहीं दिया। बहुतों ने तो यही समझा कि यह सिर्फ़ वक्तृत्वकला का एक अलंकार है। फलतः उन्हें अपने शब्दों को सत्य सिद्ध करने की आवश्यकता हुई। इसी प्रकार जब वे कहते हैं कि जिनके पास सम्पत्ति है, वे उसके मालिक नहीं, किन्तु ट्रस्टी हैं, तब उनके इन शब्दों को वाणी का अलंकार-मात्र मान लिया जाता है। आक्षेपकों के मन में इस प्रकार का भी शायद एक अस्पष्ट-सा खयाल रहता है कि क़ानून की रू से बने हुए ट्रस्टियों के और धर्म की रू से बने हुए ट्रस्टियों के कर्तव्य में कुछ भेद होता है; अर्थात्, यदि दूसरे प्रकार के ट्रस्टी सम्पत्ति के सच्चे अधिकारियों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन न करें, और स्वयं ही उस सम्पत्ति का उपभोग करें, तो कोई हर्ज न होगा! किन्तु गांधीजी ऐसा कोई भेद नहीं मानते हैं। गांधीजी की यह आदत ही नहीं कि किसी सिद्धान्त को आचरण का रूप देने की साधन-सुविधा न होते हुए भी, उसका प्रतिपादन करने बैठ जायँ। वे मानते हैं कि मनुष्य के सुखपूर्वक निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है, उसे छोड़कर शेष सारे अधिकार का उपभोग दूसरों की अनुमति से ही किया जा सकता है; फिर भले ही वह अनुमति निर्बलतावश दी गई हो, या अज्ञानवश। किन्तु निर्बलता के मिटने और उसके स्थान पर शक्ति का उदय होने और अज्ञान के स्थान ज्ञान पैदा हो जाने पर उस अतिरिक्त सम्पत्ति के ऊपर केवल ट्रस्टी के नाते ही अधिकार रह सकता है; अतः यदि आवश्यक है, तो जनता को बलवान और ज्ञानवान बनाने की है। और जब हम सोचते हैं कि इसके लिए किस प्रकार का बल उत्पन्न करना उचित है, तो हमें पता चलता है कि जनता में उत्पन्न किया जाने वाला वह बल अहिंसामय ही होना चाहिए—बशर्ते कि हम चाहते हों कि जो आज सम्पत्तिहीन हैं, उनके हाथ में सम्पत्ति का अधिकार आते ही वे भी आज के सम्पत्तिशालियों की तरह जालिम या अत्याचारी न बनें। और गांधीजी का तो यह दावा है कि हिंसक बल पैदा करने की अपेक्षा यह अहिंसक बल

निर्माण करना अधिक सरल है। इस विषय की इससे अधिक चर्चा नहीं की जा सकती; क्योंकि गांधीजी और उनके इस विचार से सहमत उनके साथी इसे प्रत्यक्ष आचरण में लाने का प्रयोग अभी तो कर ही रहे हैं।

: ३ :

इतना लिख चुकने के बाद ऊपर दी गई दृष्टि के प्रकाश में गांधीजी की वर्तमान प्रवृत्तियों की छानबीन करना शायद बोधप्रद होगा। कांग्रेस से अथवा प्रत्यक्ष राजनीति से निवृत्त होकर ही वे सन्तुष्ट न हुए। मगनवाड़ी में बैठे-बैठे ग्रामउद्योग के भिन्न-भिन्न पहलुओं की ओर ध्यान दिला कर और मार्ग-दर्शन करा के ही उन्होंने सन्तोष न माना। बल्कि उन्हें डाक-तार की सुविधा से रहित; बरसात में कठिन कीचड़ से घिर जाने वाले 'सेगाँव' में जाकर बैठने की इच्छा हुई। देश की जो विकट समस्याएँ कांग्रेस को, विद्वान् लेखकों को और सरकार को परेशान किये हैं, उन समस्याओं का अहिंसात्मक निराकरण ढूँढ़ने का यह तरीका गांधीजीने अपनाया है। अगर यह कहें कि विकट या महान् समस्याओं का निराकरण ढूँढ़ने का विचार ही उन्होंने तज दिया है, तो वह शायद उनकी शान में एक असंगत-सी बात होगी। फिर भी संभव है कि लोग ऐसा समझें और यह सोचकर अपना मन मना लें कि भले अब गांधीजी थोड़ा करें। लेकिन, बहुतों को तो यह कल्पना ही अत्यन्त असंगत और विलक्षण लगेगी, कि इस तरीके से गांधीजी देश की महान समस्याओं को हल करने की कोई कुँजी तलाश कर रहे हैं! तो भी गांधीजी के लिए तो यही नितान्त स्वाभाविक और सुसंगत रीति है। देहातियों, और उनमें भी समाज की अत्यन्त निचली श्रेणी के कहे जानेवाले देहातियों के सीधे सम्पर्क में आकर वह इन समस्याओं का अहिंसात्मक हल पा जाने की आशा रखते हैं। उन्हों ने आस-पास देहाती हरिजनों को इकट्ठा किया है। इन लोगों को अगर वह धूल से धान पैदा करना सिखा सकें, इनको इस योग्य बना सकें कि ये अपने लिए स्वच्छ दूध और साफ गुड़ प्राप्त करने लगें, इन्हें पढ़ा-लिखाकर वर्तमान घटनाओं से परिचित करा सकें, और यदि इनके गाँव को

गन्दगी और गन्दगी से पैदा होनेवाले रोगों से बचा सकें, तो क्या शक है कि सेगाँव के लोगों को मनुष्यमात्र में—और फलतः अपने में—रहने वाली सुप्त शक्ति का भान हो जाय ? अतः यह कोई असम्भव बात नहीं है कि किसी दिन यही देहाती सरकार का और सारे हिन्दुस्तान का ध्यान अपनी ओर खींच लें। लेकिन इसके लिए तो कल्पना को बहुत दूर तक दौड़ाना पड़ेगा। इस काम की कठिनाइयों का खयाल गांधीजी को है। किन्तु वह श्रद्धापूर्वक इस बात को मानते हैं कि जो काम मनुष्य को असम्भव मालूम होता है, ईश्वर उसको सम्भव कर सकता है; क्योंकि उसके लिए असम्भव कुछ है ही नहीं। जिसकी कृपा से 'मूक होय वाचाल, पंगु चढ़े गिरिवर गहन,' उस सत्य और अहिंसा—अर्थात् प्रेम-रूपी परमेश्वर—में गांधीजी की अटल श्रद्धा है।

गांधीजी की कार्य पद्धति के एक दूसरे लक्षण का उल्लेख करके मैं इस लेख को समाप्त करूँगा। यह तो कोई नहीं कहेगा कि आंदोलनों और मानव-समूहों को इकट्ठा करने की रीति से गांधीजी अनभिज्ञ हैं। उलटे, जब-जब उन्होंने आन्दोलन उठाये हैं और सम्मेलन किये हैं, तब-तब उन्होंने सारे संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। किन्तु यदि हम विविध प्रश्नों सम्बन्धी गांधीजी के विचारों और आचारों की नीति को बुद्धिपूर्वक समझना चाहते हैं, तो उनके आन्दोलनों और सम्मेलनों के कार्यक्रमों में जो एक विशेषता सदा से रहती आई है, उसे हमें कभी नहीं भूलना चाहिए। और वह विशेषता यह है कि जबतक किसी अन्याय के प्रतिकार के लिए जनता को किसी निश्चित मार्ग से लेजाने की उनकी तैयारी नहीं होती, तबतक उस अन्याय के प्रति उनके मन में कितना ही दुःख क्यों न रहे, वे उसके सम्बन्ध में जनता के भावों को कभी उत्तेजित नहीं करते। अन्याय का सीधा इलाज करने के बदले जिन थोथे आंदोलनों में केवल समाचार-पत्रों के पृष्ठ रँगने और साबून के बुलबुलों की तरह क्षणिक प्रदर्शन करने की दृष्टि मुख्य रहती है, उनमें उन्हें कोई श्रद्धा नहीं। गांधीजी जब कभी किसी प्रश्न को उठाते हैं, और

उस सम्बन्ध में लोकमत का जगाने का प्रयत्न करते हैं और उसके लिए किसी प्रकार का आकर्षक कार्यक्रम सुनाते हैं, तब ज़रूर यह आशा रखी जा सकती है कि उसके पीछे कोई प्रभावशाली और यदि आवश्यक हो तो अग्रगामी क़दम उठाने की बात उनके ध्यान में आई है। जबतक ऐसा नहीं होता, वह इस प्रकार के अन्यायो के विषय में मौन ही रहते हैं, और दूसरों को भी मौन धारण की सलाह देते हैं; और ऐसा करके अपने सम्बन्ध में पैदा होनेवाली ग़लतफ़हमी का जोखिम भी उठा लेते हैं।

मैं समझता हूँ कि गाँधीजी के 'अनुयायी' को श्रद्धापूर्वक कार्यरत रहने के लिए इतनी सामग्री पर्याप्त होनी चाहिए। आज देश के सामने अत्यन्त गम्भीर, महत्त्वपूर्ण, अत्यन्त जटिल और सारी दुनिया से सम्बन्ध रखने वाले कई कूट प्रश्न उपस्थित हैं और आगे भी उपस्थित होंगे। हम में से कुछ लोग, जो अधिक विद्वान और बुद्धिशाली है, पहले इनका प्रत्यक्ष अनुशीलन करके इनमें निष्णात बनेंगे। औरों को, मजबूरन इन निष्णातों के द्वारा, परोक्ष रीति से, अपने मत स्थिर करने होंगे। असल में तो जो विद्वान् निष्णात के नाम से मशहूर हैं, उनमें भी बहुतों के मत अधिकतर परोक्ष आधारों पर बने होते हैं। संसार में आज कोई भी इतना चतुर, विद्वान् और निष्णात पुरुष नहीं है, जो संसार को परेशान करनेवाले कूट प्रश्नों के बारे में बिल्कुल सच्ची और संशयरहित सफ़ाई दे सके, उपाय सुझा सके, या कोई भविष्यवाणी कर सके। हक़ीकत यह है कि जो मत आज दावे के साथ पेश किया जाता है, वही मत छः महीनों बाद झूठा हो जाता है। अतएव ऐसे प्रश्नों की अत्यन्त शास्त्रीय चर्चा निःसार, समय को बरबाद करनेवाली, निकम्मी और कइयों को अधिक उलझन में डालने वाली हो पड़ती है; क्योंकि ऐसी चर्चाओं का अधिकतर आधार अप्रत्यक्ष और अपूर्ण जानकारी ही होती है। इस प्रकार की चर्चा द्वारा बुद्धि को उलझन में डालने की अपेक्षा गांधीजी की तरह यह मानना कि 'मेरे लिए यह एक क़दम काफ़ी है', कहीं अधिक सुरक्षित है। इसके विपरीत, जब आदमी किन्हीं प्रश्नों के संबंध में बहुत जल्दी से अपना मत निश्चित कर

Mohan Kaul Sapru

लेता है, तब उसकी बुद्धि का विकास बहुत पहले रुक जाता है। जिन प्रश्नों को हल करना आज हमारे लिए संभव न हो, उनपर तत्काल कोई राय क़ायम न करना ही बेहतर है।

गाँधी जी की पद्धतियों पर और उनके 'रचनात्मक कार्यक्रमों' पर बहुतेरे बुद्धिप्रधान लोगों की श्रद्धा आज नहीं जम रही है। उन्हें ये सब आकर्षक और उत्साहवर्द्धक नहीं मालूम होते। पर इसका कोई इलाज नहीं है। इस विषय में उनके साथ अनन्त चर्चा करते रहना या उनका दोष ही दिखाते रहना, दोनों ही व्यर्थ हैं। उनपर नाराज़ हुए बिना, उन्हें उनके विचारों और भावनाओं के अनुसार रहने और करने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए। यदि उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि गांधीजी के विचारों और मार्गों का खण्डन किये बिना वे रही नहीं सकते हैं, तो यह सोचकर कि ऐसा करने का भी उन्हें अधिकार है, हमें उन पर गुस्सा न होना चाहिए। क्योंकि हमें तो यह आशा रखनी चाहिए कि प्रत्यक्ष प्रमाणों से सत्य और अहिंसामय प्रवृत्तियों के परिणामों को सिद्ध करके ही हम उन्हें जीत लेंगे।

अन्त में, मुझे यह कहना है कि गांधीजी की इच्छा के विपरीत भी यदि 'गांधीवाद' शब्द को जीवित रहना है, तो कम-से-कम हमें यह समझ लेना चाहिए, कि यह एक कार्य-पद्धति का सूचक शब्द है, किसी व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित समाज-व्यवस्था की रचना विशेष का सूचक नहीं।

: १ :

समाजवाद या समाजधर्म ?

[श्री० किशोरलाल घ० मशरूवाला]

यह एक विचार करने योग्य सवाल है कि हमको जगत में प्रथम किस बात की ज़रूरत है—समाजवाद की या समाजधर्म की ? सब लोग सुखी हों, कोई ग़रीब न हो, सभी को आरोग्य, बल, बुद्धि, विद्या, संपत्ति, आदि सुख के साधन प्राप्त हों, सर्वत्र समानता का व्यवहार हो, आदि शुभेच्छाएँ,

PRATAP COLLEGE LIBRARY

पुराने ज़माने से प्रार्थना, नाटक, आदि के अन्त में हम लोगों में प्रकट की जाती हैं। मतलब यह कि समाजवाद के इस ध्येय से किसी समझदार (विवेकी) मनुष्य का विरोध नहीं हो सकता है। किसी समझदार मनुष्य को समाज की ऐसी हालत में सन्तोष नहीं हो सकता कि जिसमें कुछ व्यक्तियों के पास तो अपार संपत्ति, अधिकार, उच्च दर्जे और फुरसत हों, और अधिकांश लोगों को अत्यंत परिश्रम करते हुए भी तंगी, अधीनता, भय और जी-हुज़ूरी में ही जीवन काटना पड़ता हो। न तो हमारे देश के, और न किसी दूसरे देश के ही किसी महात्मा पुरुष ने यह हालत कभी अच्छी समझी है, अथवा वैसा उपदेश ही दिया है। यह भी बात नहीं है कि ऐसे महात्मा पुरुष सिर्फ़ अरण्यवासी—जनता से अलग रहना ही पसन्द करनेवाले—रहे हैं। इनमें से कई ने तो स्वयं, और कई के शिष्यों ने, राजसत्ता भी प्राप्त की थी, और इस ध्येय की दिशा में कुछ चेष्टाएँ भी की थीं। फिर, अनेक प्रकार की राज्य प्रणालियों के भी प्रयोग हो चुके हैं। एकतंत्र सत्ता, चन्द बड़े और ऊँचे ख़यालात के लोगों की सत्ता, सारी जमात की सत्ता—आदि अनेक प्रकार के राज्यतंत्रों का इतिहास में पता चलता है। लेकिन अभी तक मानव-जाति समानता के आदर्श को व्यवहार में सिद्ध करने में सफल नहीं हुई है। ऐसा क्यों है?

मुझे तो लगता है कि जबतक मानव-हृदय में समाजधर्म का उदय न हो, तबतक समाजवाद—यानी समानता का आदर्श—अधिकार के ज़ोर पर स्थापित राज्यतंत्रों द्वारा सिद्ध होने वाली चीज़ ही नहीं है। अभी तक मानव-हृदय इतना संस्कृत होने ही नहीं पाया है कि वह अपने वैयक्तिक सुख, स्वातंत्र्य, कीर्ति, अधिकार, आदि की आकांक्षाओं को भूल ही जाय, और सार्वजनिक सुख को ही जीवन का ध्येय बना ले। जबतक मानव हृदय की ऐसी अवस्था है, तबतक किसी भी स्वरूप के राज्यतंत्र द्वारा समानता की सिद्धि होना मुझे असंभव मालूम होता है। तबतक क्रांति से केवल इतना ही हो पाता है कि एक पक्ष के हाथ में से दूसरा पक्ष राज्यलक्ष्मी को छीन लेता है, कुछ दिन तक उस राज्याधिकार का

सदुपयोग करता है और बाद को दुरुपयोग करने लगता है तथा अपना अधिकार बनाये रखने के लिए जनता का दमन करता है। जबतक मानव समाज की व्यवस्था बल की नींव पर बने हुए राज्यतंत्रों पर अवलंबित रहेगी, तबतक उस राज्यतंत्र का स्वरूप कैसा भी क्यों न हो, उसमें से वर्ग-विहीनता पैदा हो ही नहीं सकती। मानव जाति में निर्माण होने वाली वर्ग-रचनाएँ खुदाई—प्रकृति की व्यवस्था में अनिवार्य—चीज़ें नहीं हैं। पर जबतक मानव हृदय में यह वृत्ति ज़ोर पर है कि पड़ौसी के सुख और अपने सुख के बीच में संघर्ष होने पर वह अपने सुख का पहला ख़याल करे; अथवा पड़ौसी का सुख बढ़ाने के लिए स्वयं उसे कुछ तकलीफ़ न उठानी पड़े, बल्कि बन सके तो पड़ौसी के श्रम द्वारा स्वयं ही कुछ लाभ उठा ले; अथवा जबतक यह वृत्ति मौजूद है कि कितना अच्छा हो यदि बिना परिश्रम किये वह सब सुखों को प्राप्त कर सके—यानी परिश्रम से बचने ही में आनन्द माने—तबतक वह यही कोशिश करता रहेगा कि सुख के साधनों पर उसका अपना कब्ज़ा हो जाय, और वह बल उसे प्राप्त हो कि जिससे वह कब्ज़ा उसके पास क़ायम रहे।

निजी जायदाद न होने से ही मनुष्य प्रोलेटेरियन—अकिंचन—नहीं होता। जो मनुष्य चाहता है कि उसके पास अपनी निजी जायदाद हो और वह बढ़ती रहे, वह आज भले ही अकिंचन हो, पर वस्तुतः वह मालदारों के वर्ग का ही है। मेरा मतलब यह नहीं है कि अकिंचनता केवल मानसिक भाव है, और स्थूल रूप में मालदार होने पर भी मानसिक अकिंचनता का दावा करना बिलकुल सही है। साधारणतया मानव-हृदय में जायदाद पर क़ब्ज़ा रखने की लालसा इतनी प्रबल दिखाई देती है कि अपनी सारी निजी जायदाद का विसर्जन कर देने पर भी उसकी व्यवस्था और उपयोग में उसकी आग्रह-युक्त दिलचस्पी रहती है। इतना ही नहीं, बल्कि फिर तो दूसरों की जायदाद की व्यवस्था और उसका उपयोग करने का भी बलवान मोह आ सकता है। मतलब यह कि संपत्ति का प्रभाव मानव-हृदय पर अजीब-सा है। और इसी कारण अकिंचनता की नितान्त

सिद्धि होने नहीं पाती। अकिंचनता को मनुष्य कष्टमय स्थिति ही समझता आया है। आदर्श अथवा इष्ट स्थिति है—ऐसा नहीं समझता। इसलिए जबतक यह मानव स्वभाव है, तबतक अकिंचन—वर्गहीन—समाज क़ायम नहीं होगा।

और जबतक मनुष्य के हृदय पर इस संस्कार का ज़ोर है कि परिश्रम करना आफ़त है, उससे बचना ही सुख है, तबतक भी वर्गहीन समाज का क़ायम होना असंभव मालूम होता है। जीवन-निर्वाह के आवश्यक पदार्थ शरीर-बल से पैदा किये जायँ या यंत्र-बल से, यह गौण प्रश्न है। परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर यंत्र के उपयोग की मर्यादा निश्चित करने का ही यह सवाल है। लेकिन इतना तो निश्चित है कि चाहे शरीर-बल का अधिक उपयोग करें अथवा यंत्र-बल का, जीवन-निर्वाह के आवश्यक पदार्थों को पैदा किये बिना काम नहीं चलेगा। अर्थात् अन्न, वस्त्र, मकान, रास्ते, रोशनी, सफ़ाई, बाल-वृद्ध-निर्बलों का पालन, शिक्षा, आदि की व्यवस्था करनी ही होगी। केवल एक बटन दबा देने से ही, इनमें से अधिकांश काम यदि संभव भी हों तब भी, बटन दबाने का परिश्रम और उसकी चिन्ता तो किसी को करनी ही होगी। लेकिन जब परिश्रम को कष्ट मानने का संस्कार मनुष्य बना लेता है, तब बटन दबाने और उसकी चिन्ता करने में भी उसे आफ़त मालूम होती है, और वह इच्छा करता है कि कोई दूसरा उस ज़िम्मेदारी को ले ले और वह स्वयं पड़ा रहे अथवा कुछ दूसरा 'विशेष महत्त्व' का काम करता रहे। उठ कर घड़े में से पानी लेकर पी लेना, अथवा लोटा लेकर जंगल चले जाना, ये तो कोई बड़े परिश्रम के काम नहीं है। लेकिन इनमें भी मनुष्य तकलीफ़ समझता है। चाहता है कि पत्नी या लड़का या नौकर पानी ला दे, लोटा भर दे, और नौकर लोटा लेकर साथ चले। सोना तो हरेक मनुष्य चाहता है और आराम से सोना चाहता है; पर साथ ही वह यह भी चाहने लगता है कि उसका बिछौना कोई दूसरा आदमी तैयार कर दे, ताकि उतने समय

में वह श्रमजीवियों की अवस्था पर एक लेख या कविता की कुछ पंक्तियाँ लिख डाले।

यह बात भी नहीं है कि मनुष्य को शारीरिक परिश्रम से ही हमेशा एतराज़ है। दंड, बैठक, कुश्ती, आदि व्यायाम के लिए, या पैदल घूमने के लिए वह तैयार हो ही जाता है। पर अजीब बात है कि जिन पर अपना जीवन निर्भर है, उनके लिए तनिक-सा भी परिश्रम करने में वह कष्ट महसूस करता है। मित्रों के साथ गप्प उड़ाने के लिए वह रात भर जागरण करेगा, लेकिन खेत की रखवाली करने के लिए किसी और को ढूंढ़ेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि असल बात यह है कि जबतक संकल्प मात्र से जीवन-निर्वाह के सब साधन प्राप्त करने की मनुष्य ने शक्ति प्राप्त नहीं की है, तबतक कुछ-न-कुछ परिश्रम तो किसी-न-किसी को करना ही होगा। और परिश्रम को आफ़त समझने का संस्कार यदि उसमें दृढ़ हो गया है, तो उस आफ़त को किसी दूसरे पर ढकेलने का वह प्रयत्न करता ही रहेगा। इस प्रयत्न का ही नाम वर्ग-निर्माण करने का प्रयत्न है।

और बल के ज़रिये किसी ख़ास व्यवस्था के निर्माण करने में जिनकी श्रद्धा है, उनके लिए अन्त में जाकर 'डिक्टेटरशिप' तक पहुँच जाना अनिवार्य हो जाता है। आज दस व्यक्ति यह मान लेते हैं कि सारी जनता से वे समझदार हैं; अधिकतर लोग तो मूर्ख और जड़; वे नहीं जानते कि किस बात में उनका कल्याण है। और कुछ लोग जो विरोध करते हैं वे या तो स्वार्थी हैं, अथवा मूर्ख और जड़ के अलावा हठी भी। इसलिए जनता के कल्याण के लिए विरोधियों को दबा देना और अपने हाथ में सब अधिकार वे ले लेना चाहते हैं। इस तरह ये दस व्यक्ति अधिकार प्राप्त कर लेते हैं और लोक-कल्याण के उपाय आज़माने बैठते हैं। धीरे-धीरे इन दस की समिति महसूस करती है कि इन सबकी भीस मझदारी एक-सी नहीं है, और किसी एक की राय से ही काम करना आवश्यक है; अधिकांश अधिकार उसे सुपुर्द कर देने चाहिएं, तथा औरों को उसकी

आज्ञाओं को वफ़ादारी से मानना चाहिए। इस तरह 'डिक्टेटरशिप' आ जाती है। और जिस जन-कल्याण के नाम पर इन दस ने और विरोधियों को दबा देना अच्छा समझा, उसी जन-कल्याण के नाम पर इन दस में से उस 'डिक्टेटर' का कोई विरोध करे, तो उसे भी दबा देना आवश्यक मालूम होता है। मतलब यह कि जबतक एक समूह मानव-संस्कारों के परिवर्त्तन के स्थान पर बलात्कार को जन-कल्याण का या अपने उद्देश्य की सिद्धि का अन्तिम उपाय मानता है, तब तक जुल्मी 'डिक्टेटरशिप' और उसके फलस्वरूप एक बलवान दल का प्रभुत्व और अन्त में वर्ग-निर्माण हुए बिना नहीं रहेगा।

यह न माना जाय कि मैं इन विचारों को समाजवाद के मूलभूत सिद्धान्त का विरोध करने के लिए, अथवा वर्त्तमान प्रणाली के समर्थन के लिए प्रकट कर रहा हूँ। मेरा विश्वास हो गया है कि बलात्कार की नींव पर खड़ी हुई किसी भी प्रकार की राज्य-प्रणाली से मानव जाति अपने ध्येय के अन्त तक नहीं पहुँच सकेगी। फिर भी, वर्तमान प्रणाली को तो हटाना ही होगा। लेकिन इन विचारों को प्रकट करने में मेरा हेतु यह है कि समाजवादी का खयाल इस बात पर जाय कि उसे विचार में और भी गहरे जाना होगा। ऊपरी परिवर्तनों से—वे क्रान्तिकारी हों तो भी—काम नहीं चलेगा। यह समस्या केवल किसी विशेष प्रकार की राज्य-प्रणाली या अर्थ-व्यवस्था के क़ायम कर देने से नहीं, बल्कि मानव-संस्कारों के परिवर्तन से हल होगी। समाजवाद के ध्येय को सफल करने के लिए मनुष्य को व्यक्तिवादी न रह कर समाजधर्मी बनना होगा। पड़ौसी का चाहे कुछ भी हो, पर अपना विकास, भोग, आराम, यश, मोक्ष आदि सिद्ध कर लेना व्यक्तिधर्म नहीं, बल्कि व्यक्तिवादित्व है। खुद का चाहे कुछ भी हो, पर पड़ौसी का विकास, भोग, आराम, यश, मोक्ष आदि सिद्ध हो, तथा अपने विकास, भोग, आराम, यश, मोक्ष आदि के प्रयत्न द्वारा पड़ौसी को लाभ हो, यह समाजवादित्व नहीं, बल्कि समाज-धर्म है। समाजधर्मी परिश्रम को आफ़त नहीं समझता। मेरी दृष्टि में परिश्रम को आफ़त

समझना व्यक्तिवादित्व है। परिश्रम करने की अशक्ति को आफ़त और शक्ति को विभूति समझना समाजधर्म है।

अब हम स्वयं अपने हृदय से पूछें कि हम क्या चाहते हैं—समाजवाद या समाजधर्म ?

: ३ :

सर्वोदयवाद

[श्री० किशोरलाल घ० मशरूवाला]

अगर "वाद" के मानी ये हों कि एक निश्चित ढाँचे में तैयार किया हुआ जीवन का पूरा-पूरा नक्शा, तो गांधीवाद जैसी कोई चीज़ नहीं है। अगर "वाद" के मानी ये भी हों कि ऐसा एक पूर्ण शास्त्र, जिसे देखकर जीवन-सम्बन्धी किसी भी मुआमले का जवाब हासिल कर लिया जाय, तो भी कहना होगा कि गांधीवाद जैसी कोई चीज़ नहीं है। लेकिन, अगर "वाद" के मानी हों जीवन-व्यवहार के लिए कुछ मोटे नैतिक सिद्धान्तों का स्वीकार, तो मानना होगा कि गांधीवाद नाम की एक चीज़ और एक व्यवहारमार्ग उत्पन्न हो चुका है। अगर उनके लिए कोई सूचक नाम देना हो तो क्रमशः उन्हें सर्वोदयवाद और सत्याग्रहमार्ग कह सकते हैं।

सच पूछा जाय तो ये सिद्धान्त नये नहीं है। गांधीजीने ऐसा कोई नीतितत्त्व प्रकट नहीं किया है जिसका दुनिया में किसी को कभी परिचय न था। अत्यन्त पुराने ज़माने से आज तक इन नैतिक सिद्धान्तों पर मानवजाति का भौतिक और सांस्कारिक उत्कर्ष हुआ है, और उसके प्रति हमेशा आदर भी रहा है। हर ज़माने में सैकड़ों स्त्री-पुरुष अपने निजी जीवन में उनपर चलने के लिए कोशिश करते आये हैं। गांधीजी ने जो विशेषता बताई है, वह यह है कि समाज और राष्ट्रीय जीवन में भी बड़े पैमाने पर उन सिद्धान्तों का अमल किया जाना चाहिए और किया जा सकता है।

दरहक़ीक़त, न केवल सारी मानवजाति ही, बल्कि सारी जीव-जाति एक ही बड़ा परिवार है। पर वर्तमान युग के लिए यह एक अति दूर

सिद्धान्त होजायगा। इसलिए अगर हम इतना ही मानकर चलें कि सिर्फ़ सारी मानवजाति एक ही बड़ा परिवार है, तो काफ़ी है। इस परिवार में न कोई व्यक्ति ऊंचा है, न कोई नीचा है। न कोई जन्मतः विशेषाधिकारी है, न कोई न्यूनाधिकारी। सब समान हैं और राष्ट्रनिर्माण का आदर्श यह होना चाहिए कि सभी का उत्कर्ष हो।

दुनिया के अलग-अलग भौगोलिक विभाग, मानो, एक ही मकान के भिन्न-भिन्न कमरे हैं। उनमें अलग-अलग लोगों का ठहरना केवल व्यवस्था है। अगर उस व्यवस्था में सबकी सुविधा हो तो उसे बिगाड़ने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन अगर सर्वोदय-सिद्धि के लिए इस व्यवस्था में फेरफार करने की ज़रूरत हो तो वैसा करने में कोई नैतिक दोष नहीं है। अर्थात् सर्वोदय की सिद्धि के लिए मानवों का एक देश से दूसरे देश में बसना अनधिकार है।

मकान में कुछ इन्तज़ाम ऐसा होता है, जो हरेक कमरे में पाया जाता है, और कुछ बातें ऐसी होती हैं जो कुछ में होती हैं, और कुछ में नहीं होतीं। इन सब व्यवस्थाओं का हेतु मकान में रहनेवाले सब लोगों का सुख और सुविधा है। कहां पर क्या इन्तजाम हो, कितना हो, उनके उपभोग में किस शख्स का कितना अधिकार हो, किसके सुपुर्द कौनसी व्यवस्था हो आदि बातें सहूलियत की हैं। इन पर किसी का "यावच्चंद्रदिवाकरौ" अधिकार नहीं हो सकता है। सर्वोदय के लिए इन इन्तज़ामों में जब भी ज़रूरत हो फेरफार करने में दोष नहीं है, बल्कि कर्तव्य है।

यही बात पारिवारिक कामों के प्रबंध की है। किसको कौनसा काम सौंपा जाय, किस तरह किया या कराया जाय, आदि सब बातें सर्वोदयी व्यवस्था की हैं। किसी का किसी प्रबंध पर क़ायमी अधिकार नहीं हो सकता।

पारिवारिक इन्तज़ामों में फेरफार कौन करे ? किस तरह करे ? परिवार में परस्पर संघर्ष हो तो उसे किस तरह मिटाया जाय ?

कभी-कभी परिवार में तीव्र कलह पैदा होते हैं। यह बात सच है

कि उसका नतीजा कभी-कभी अदालत और खूनखराबी तक पहुंच जाता है। जहां इस हद तक मामला नहीं पहुंचता है, वहाँ भी आपस में कुछ-कुछ असंतोष का अनुभव होना, अथवा एकाध जबरदस्त और स्वार्थी व्यक्ति द्वारा अन्य कुटुम्बीजनों के प्रति अन्यायपूर्ण बर्ताव किया जाना नामुमकिन नहीं है। ये सब मानव स्वभाव के क्रम-विकास के चिह्न हैं। फिर भी कभी यह नहीं माना जाता कि खून और अदालत इन संघर्षों को मिटाने के वाजिब उपाय हैं। और यह भी नहीं माना जाता है कि परिवार में किसी प्रकार का स्थायी वर्गविग्रह होता है।

संस्कारी और समझदार परिवारों में कौटुम्बिक क्लेश, अन्याय आदि जिन मर्यादाओं में रहकर मिटाये जाते हैं; उन्हीं मर्यादाओं में रहते हुए सारी मानव-जाति के कलह और अन्याय मिटाना नामुमकिन नहीं है, बल्कि, समझदारी और कर्तव्य है।

अच्छे खानदान के व्यक्तियों के संस्कार किस तरह के होते हैं? उन सबकी यह इच्छा होती है कि हम सब एकदिली और समानभाव से रहें। हमारे अन्दर जो कुछ मतभेद या असन्तोष हो, साथ में बैठकर मिटादें। बड़े भाई को हमेशा यह चिन्ता रहती है कि छोटे भाई और उनके लड़के बच्चों को कम-से-कम तकलीफ़ हो। हिन्दू-संसार में तो सैंकड़ों बड़े भाई ऐसे पाये जायँगे कि जिन्होंने अपने छोटे भाइयों के उत्कर्ष के लिए अपनी निजी आकांक्षाओं और सुखों का वर्षों तक बलिदान कर दिया है। अगर कुछ असन्तोष उत्पन्न हो जाय तो प्रायः परिवार के समझदार व्यक्ति अपने वाजिब हक्कों का भी त्याग करके असन्तोष के बीज को उखाड़ने का प्रयत्न करते हैं। इसीमें खानदानीपन या शराफ़त मानी जाती है। अगर कुटुम्बीजन दुराग्रही होता है, तो क्या किया जाता है? उसे समझाते हैं। बहुत ही महत्व की बात न हो और न समझा सकें तो निभा लेते हैं। महत्व की बात हो तो सारे परिवार का उस पर नैतिक दबाव डलवाते हैं। ज़रूरत हो तो जिस पर उस शख्स का यक़ीन हो ऐसे किसी मित्र द्वारा भी नैतिक दबाव डलवाते हैं, अथवा उसको पंच बनाते हैं। उसकी शुद्ध

बुद्धि और ऊंची भावनाओं को जागृत करने और उसमें शर्म पैदा करने का प्रयत्न भी करते हैं। और अन्त में अनेक प्रकार से सत्याग्रह का प्रयोग करते हैं। ये उपाय बड़ों के सामने भी चलते हैं और छोटों के सामने भी। स्त्रीहठ, बालहठ आदि शब्द प्रायः दुराग्रहवाचक समझे जाते हैं, लेकिन वे सत्याग्रही प्रयोग भी हो सकते हैं। मतलब यह है कि परिवार में आग्रह एक ऐसा शस्त्र है कि जिसका छोटे-बड़े व्यक्ति और कभी-कभी जानवर भी उपयोग कर सकते हैं। इसके उपयोग में एक ही शर्त आवश्यक होती है। टूट जाना, पर दब न जाना। यह मुमकिन है कि आग्रही पक्ष खुद को सत्याग्रही माने, और उसकी बात को नामंजूर करने वाले उसको दुराग्रही। फिर भी समझदार कुटुम्ब में कभी ऐसा नहीं सोचा जाता कि उस पर ज़बरदस्ती की जाय, उसे मारा या पीटा जाय, क़ैद किया जाय या उसका सब कुछ छीनकर उसे निकाल दिया जाय। अधिक से अधिक यह सोचा जाता है कि उसे उसका हिस्सा देकर अलग कर दिया जाय। कुरु अथवा मुग़ल वंश में जैसे महत्वाकांक्षी स्वकुल शत्रु पैदा हो चुके हैं, वैसे आदमी मानववंश में बाज दफ़ा पैदा हो जाते हैं। वे मानव-जाति की मामूली अवस्था के दृष्टान्त नहीं हैं, रोगी अवस्था के हैं। लेकिन ऐसा होने पर भी हत्याकांड का मार्ग ग्रहण करने से आख़िर अंजाम में सारे परिवार की बरबादी न हो जाय, तब तक मामला शान्त नहीं होता। अब तक हिंसा का कोई ऐसा मार्ग नहीं पाया गया है जिससे केवल अत्याचारी और अन्यायी व्यक्तियों का ही विनाश हो और न्यायी पक्ष सुरक्षित रहे। हिंसा द्वारा बुराई हटाने के लिए केवल इतना ही काफ़ी नहीं है कि हिंसक के पक्ष में न्याय हो, लेकिन यह भी लाज़िमी है कि उसकी हिंसक-शक्ति और योजना भी विशेष ऊँचे ढंग की हो। अगर दुनिया के हत्याकांडों का इतिहास हमें कुछ सिखाता है तो कम-से-कम इतना तो साफ़ बताता ही है कि कभी हिंसा के सहारे सत्य और न्याय की जय नहीं हुई है। लेकिन अगर एक-एक बड़े परिवार का इतिहास खोजा जाय तो अहिंसक उपायों से पारिवारिक कलह सफलतापूर्वक मिटाये जाने के सैंकड़ों

उदाहरण मिल जायंगे। पीढ़ियों तक कलह चलते रहने के बाद, एकाध महानुभावी स्त्री या पुरुष के असाधारण स्वार्थ-त्याग अथवा बलिदान से, अथवा असाधारण प्रेम के कारण निर्माण हुए विवाह सम्बन्ध से परम्परागत झगड़े शांत हो जाने के कई उदाहरण अनेक परिवारों के इतिहास में मिल जायंगे।

अगर गांधीवाद में कोई भारपूर्वक बताया हुआ न्याय है तो यह 'परिवारन्याय' है। इसके अतिरिक्त जो कुछ और विचार-धारायें, योजनायें अथवा कार्यक्रम हैं, वे सब इसी का ख़याल करते हैं कि देश की मौजूदा हालत में क्या उचित है, शक्य है और व्यवहार्य है।

अगर गांधीवाद में खद्दर और ग्रामोद्योगों पर बहुत ज़ोर दिया जाता है, या कलों पर कम कृपादृष्टि रक्खी जाती है, या उद्योगद्वारा ही पढ़ाई की बुनियाद डालने का कार्यक्रम पेश किया जाता है, तो उसकी वजह यह नहीं है कि गांधीवाद को कलों के प्रति—चूँकि वे कल हैं, इसीलिए—ऐतराज़ है। बल्कि, गांधीजी मानते हैं कि देश की वर्तमान अवस्था में सर्वोदय की ओर जाने के लिए और कोई दूसरी व्यवहार्य योजना नहीं है। अगर कलम की एक झोंक से साम्यवाद की स्थापना हो जाय, तो साम्यवादी शासकों को भी अनुभव हो जायगा कि करोड़ों जनों को स्वाभिमानपूर्वक रोटी प्राप्त कराने के लिए गाँधीजी के ही आर्थिक कार्यक्रम को चलाना होगा।

इसी तरह, अगर गांधीजी हरेक शख्स से आठ घंटे काम लेकर उसे आठ ही आने मज़दूरी देना चाहते हैं, और यह न्याय वे चर्खा चलानेवाली बुढ़िया से लेकर वाइसराय तक लगाना चाहते हैं, तो उसकी वजह यह नहीं है कि मानवजाति के भौतिक सुख का उनको इतना ही ख़याल है बल्कि उसका मतलब यह है कि अगर उनके हाथ में देश की पूरी-पूरी बागडोर हो और साथ ही दक्ष और वफ़ादार कार्यकर्ता हों तो निकट भविष्य में कितनी हद तक समाज को पहुँचाने की वे हिम्मत रखते हैं, उसका यह नक़शा है। यह बात ठीक है 'कि वे बहुपरिग्रह और बहुभोग

के आदर्श में विश्वास नहीं रखते हैं, और अपरिग्रह और अभोग का आदर्श मानते हैं। लेकिन उन्होंने दरिद्रों के सामने कभी भी ये आदर्श नहीं रक्खे! उनके लिए तो उनका सब कार्यक्रम उनके भौतिक सुख बढ़ाने का ही है! यह न भूल जाना चाहिए कि उन्होंने दरिद्रनारायण से एकरूप होने का आदर्श दरिद्रों की सेवा करने के लिए ही सामने रक्खा है, यह नहीं कि दारिद्र्य को स्वतंत्र-रूप से जीवन सिद्धान्त बताया है। कई बार उन्होंने कहा है कि जिनके पेट में रोटी नहीं है और बदन पर कपड़ा नहीं है, उनके सामने मैं धर्म की बातें कैसे रक्खूँ?

इसी तरह अगर गांधीजी ने यह कहा है कि उनके रामराज्य में राजा, ज़मींदार, धनिक और ग़रीब सब सुखपूर्वक रहेंगे, तो उसका मतलब यह नहीं है कि उनके अंतिम आदर्श समाज में एक हाथ पर राजा वग़ैरा आराम और आलस्य में रहनेवाले मनुष्यों का और दूसरे हाथ पर निष्किंचन और सतत परिश्रमी मनुष्यों का रहना आवश्यक है, बल्कि, जिस भूमिका पर आज के हिन्दुस्तान का मानवसमाज खड़ा है, उसमें अगर हम अहिंसा द्वारा सर्वोदय की ओर जाना चाहते हैं, तो उसके लिए प्रथम व्यवहार्य आदर्श यही हो सकता है कि आज जो अत्यन्त दरिद्र हैं, उन्हें शीघ्रातिशीघ्र पेटभर अन्न, शरीरभर कपड़ा, आरोग्य-कर मकान और उद्योगपूर्ण देहात प्राप्त कराने का कार्यक्रम सोचें। अगर इतना आदर्श हम सिद्ध कर सकें, तो वर्तमान के लिए कम नहीं है। भले ही तब तक ३५ करोड़ लोगों में थोड़े लोग ऐसे मिल जायँ, जिनके पास संपत्ति के ढेर पाये जाते हैं और उन्हें बरदाश्त कर लिया जाय। इसके मानी हरगिज़ यह नहीं हैं कि राजा, ज़मींदार और धनिकों की "यावच्चंद्रदिवाकरौ" संस्थायें बनाई रखने का यह सिद्धान्त है। अखीर में तो सर्वोदय का सिद्धान्त तो यही हो सकता है कि सबको यथासंभव समान बनाया जाय। पर अहिंसक परिवर्तन में यह तरीक़ा नहीं होता कि सबके मकान समान करने के लिए ऊँचे मकानों को तोड़ने से शुरूआत की जाय, बल्कि यह कि बहुत से छोटे-छोटे नये मज़बूत मकान बनाना आरम्भ कर दिया जाय,

और तबतक ऊँचे मकानों से जो कुछ उपयोग लिया जा सके, वह लिया जाय।

अगर समाजवाद और सर्वोदयवाद की तुलना करनी हो तो मैं यह कहूँगा कि समाजवाद का ध्येय है क्रान्ति, यानी सुसंपन्नों पर दरिद्रों का शासनाधिकार और सर्वोदय का ध्येय है हृदयपरिवर्तन यानी सुसंपन्नों द्वारा दरिद्रों की सेवा। समाजवाद में क्रान्ति की सिद्धि के लिए दरिद्र सेवा (बल्कि, दरिद्रसंपर्क) एक साधन है। सर्वोदय में मानव-सेवा की सिद्धि के लिए क्रान्ति, यानी शासनाधिकार की प्राप्ति एक साधन हो सकता है। समाजवाद को परवा नहीं कि जिस क्रान्ति देवी की वह बड़ी दिव्य श्रद्धा से आराधना करता है, उसकी प्राप्ति अहिंसा द्वारा ही हो या रक्तपात द्वारा, सर्वोदय में हिंसा के लिए गुँजाइश नहीं, क्योंकि उसमें परिवार-न्याय है। समाजवाद में इतनी ही प्रतिज्ञा है कि सब मानव समान हैं। सर्वोदय में यह प्रतिज्ञा तो है ही, साथ ही यह भी है कि मनुष्य अहिंस्य है।

: ४ :

गांधीवाद : समाजवाद

[श्री हरिभाऊ उपाध्याय]

१

यह आजकल ठीक-ठीक जिज्ञासा और चर्चा का विषय बन रहा है। असली काम की बनिस्बत चर्चा का ज्यादा होना हम जैसे गुलाम देशवालों के लिए नागवार होना चाहिए; परन्तु दिमाग़ को सुलझाने लिए आखिर चर्चा ही तो एक साधन है, इसलिए मैं इस चर्चा को इतना बुरा भी नहीं समझता हूँ—बशर्ते कि हम पक्षपात और दुराग्रह को छोड़कर दोनों का मर्म समझने की चेष्टा करें। हमें केवल सत्यशोधन की ही दृष्टि और वृत्ति रखनी चाहिए और वह जहाँ हमें ले जाय वहाँ बेखटके चले जाना चाहिए—फिर उसका परिणाम चाहे मार्क्स के खिलाफ़ निकले, चाहे गांधीजी के, चाहे वेदों के खिलाफ़ हो, या कुरान के। जो सत्य का शोधक

है वह न कभी आँख मूँदकर बैठ सकता है, न ग़लती को छिपा सकता है, न किसी के डर या मुलाहजे से अपने भावों और विचारों को प्रकट करने से डर सकता है। समाजवादियों का भी यह दावा है कि वैज्ञानिक शोधक हैं—विज्ञान की खोज में जो-जो बातें उन्हें सत्य मालूम होती जायँगी उन्हें वे बिना चूँ-चपड़ किये स्वीकार करते चले जायँगे। इसी तरह गांधीवादी तो निर्भ्रान्त रूप से कहता है कि हम सत्याग्रही, सत्यशोधक हैं। दोनों का उद्देश सत्य को पाना है, दोनों की वृत्ति एक सच्चे शोधक या साधक की वृत्ति है; हाँ, दोनों की स्पिरिट में फ़र्क़ ज़रूर है। यह कुछ हद तक स्वभाव से सम्बन्ध रखता है, कुछ हद तक जीवन-सिद्धांतों से, और कुछ हद तक परिस्थितियों से। यह महत्त्व की बात होते हुए भी यदि उद्देश और वृत्ति हमारी ठीक ही रखने की कोशिश होती रही तो विशेष हानि पहुँचे बिना हम अपने ध्येय तक पहुँच सकते हैं, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है।

२

सबसे पहले हम आदर्श पर विचार करें। गांधीवाद और समाजवाद के सामाजिक आदेश क्या हैं ? ऐसा कहते हैं कि समाजवाद ने तो इतना शास्त्रीयरूप अब धारण कर लिया है कि उसका आदर्श बताना आसान है; परन्तु गांधीवाद के लिए यह ज़रा कठिन बात है। क्योंकि एक तो गांधीजी ने इस विषय पर अब तक शास्त्रीय रीति से न कुछ कहा है, न लिखा है। न इस तरह लिखने या कहने की उनकी रीति ही है। वे न अपने को विविध शास्त्रों का पण्डित मानते हैं और न इसे अपने जीवन में विशेष महत्त्व ही देते हैं। वे अपने को एक सत्य का शोधक या साधक मानते हैं और अपने तथा देश के जीवन में सत्य के प्रयोग करते हैं और अपने अनुभव ज्यों के त्यों लोगों के सामने रखते जाते हैं। उनका सामाजिक आदर्श है जरूर; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो भिन्न-भिन्न जीवन-व्यापी विषयों पर उनके सुसंगत विचार न प्रकट हुए होते; परन्तु सम्पूर्ण शास्त्र या योजना के रूप में वह अभी सामने

नहीं आ पाया है। इसलिए उसे, मक्खन की तरह, विलो के निकालना पड़ता है। अव्वल तो 'गांधीवाद' नाम ही उन्हें खटकने वाला है। उन्होंने कितनी ही बार कहा है कि मुझे न कोई 'वाद' चलाना है, न सम्प्रदाय; मैं तो एक सत्य को जानता हूँ और सत्य की ही बातें लोगों से कहता और करता हूँ। यह कोई नई बात नहीं है। उनके अनुभव औरों से नये और भिन्न होसकते हैं; उनके प्रकाश में चीज़ों का मूल्य भी बदल सकता है, सारे समाज की रचना में उथल-पुथल हो सकती है; परन्तु सत्य की शोध और आराधना में तो ऐसा होना अवश्यम्भावी है। हर युग में सत्य के साधकों के द्वारा ऐसे ही परिणाम निकले हैं।

परन्तु गाँधीजी को पसन्द हो या न हो, हम लोगों ने तो उनके विचारों को 'गाँधीवाद' नाम दे ही डाला है। अतएव हमारे लिए यही समझना बाकी रह जाता है कि 'गाँधीवाद' है क्या, और गाँधीवाद किस सामाजिक आदर्श को किस तरह पहुँचना चाहता है।

यहां हमें यह याद रखना चाहिए कि सामाजिक आदर्श का निर्णय करने या उसके पहुँचने का मार्ग निश्चित करने में ही गाँधीवाद खतम नहीं हो जाता है। मानवी समाज और भौतिक-जगत् के परे भी गाँधीवाद जाता है। समूचे जगत् के मूल और ध्येय या आदर्श का निर्णय करने के बाद गाँधीवाद उसके प्रकाश में और उससे सुसंगत मानव-समाज का निर्माण करना चाहता है। उसे ऊपर-ऊपर विचार कर लेने से सन्तोष नहीं होता—वह ठेठ तह में जाकर निर्णय करना चाहता है। आँखों को जो-कुछ दिखाई देता है उतना ही उसके मनन या शोध का विषय नहीं है, बल्कि बुद्धि मन, कल्पना, वेदना, अनुभव, जहाँ तक पहुँच सकते हैं या इनसे भी बड़ी शक्ति अगर कोई हो तो उसकी भी पहुँच जहाँ तक हो सकती है, वहाँ तक पहुँचकर वह अपना फैसला देना और अपनी योजना बनाना चाहता है। यदि हम इस बात को न समझेंगे या भूल जायँगे तो गाँधीवाद के साथ न्याय न कर सकेंगे। तो पहले हम इसीको क्यों न समझ लें?

गाँधीजी का कहना है कि सारी दुनिया का मूल स्रोत सत्य है, दुनिया

के अणु-अणु में, इन भिन्न-भिन्न रूपों और आकार-प्रकारों में वही सत्य पिरोया हुआ है। इसका यह अर्थ हुआ कि हम सब जीव-मात्र, मनुष्य-मात्र एक ही सत्य के अंश हैं, असल में एक रूप हैं, हम सबका नाता आत्मीयता का है। जब हम मनुष्य ही नहीं, जीव-मात्र, भूत-मात्र, आत्मीय हैं तो फिर हमारा पारस्परिक सम्बन्ध प्रेम का, सहयोग का, सहिष्णुता का और उदारता का ही हो सकता है, न कि द्वेष का, झगड़े का, मारकाट का, या चढ़ा-ऊपरी का। ये दो गाँधीवाद के ध्रुव सत्य हैं जिन्हें गांधीजी क्रमशः सत्य और अहिंसा कहा करते हैं। यही गाँधीवाद के पथदर्शक सिद्धान्त हैं जिनको मिलाकर गांधीजी ने एक सुन्दर और तेजस्वी नाम दे दिया है, सत्याग्रह। वैसे यह नाम साधन या वृत्तिसूचक मालूम होता है परन्तु इसका अर्थ है—सत्य की शोध के लिए सत्य का आग्रह। अहिंसा इसमें, दूध में सफेदी की तरह, मिली या छिपी हुई है; क्योंकि सब अपने-अपने सत्य का आग्रह तभी अच्छी तरह रख सकते हैं जब एक-दूसरे के प्रति सहनशील बनकर रहें और इसीका नाम अहिंसा है।

इन दोनों के दो-दो रूप हैं, एक मूलस्वरूप और दूसरा दृश्य स्वरूप। सत्य मूलरूप में एक तत्त्व है और दृश्यरूप में यह सारा प्रकट विश्व है। अहिंसा मूलरूप में प्रेम-रूपिणी आत्मीयता है और प्रत्यक्ष रूप में जीवन के तमाम सरस और मृदुल गुणों का समुच्चय है। इस तरह सारा जगत् सत्य से ओतप्रोत और अहिंसा से सुखदायी एवं प्रगतिशील है। इस सत्य पर दृढ़ रहना, वह जिस समय जैसा अनुभव में आवे उस समय उसी पर दृढ़ रहना, मन को राग और द्वेष से हटाकर आगे सत्य को खोजने और पाने की वृत्ति रखना और जो हमसे मत-भेद रखते हैं, उनके प्रति भी सहिष्णुता और प्रेम का व्यवहार करना, इसका नाम गाँधीजी ने सत्याग्रह रखा है। यदि इस मूल बात को हमने अच्छी तरह समझ लिया तो फिर गाँधीवाद के समाजका आदर्श समझने में न तो भूल होगी और न कठिनाई ही।

२

अब, जब सारे विश्व में सबसे हमारी आत्मीयता है और हमें सबके

प्रेम और मिठास से रहना है तो यही आदर्श, वृत्ति और व्यवहार हमारा सारे मानव-समाज के प्रति होगा, वह अलहदा कहने की ज़रूरत नहीं है। जब हम सब आत्मीय हैं तो हम एक-दूसरे का भला, उन्नति, सुख ही चाह सकते हैं, बुरा और बिगाड़ नहीं। तो सारे मानव-समाज का उदय चाहना —सर्वोदय—गाँधीजी का सामाजिक आदर्श हुआ। इसका यह अर्थ हुआ कि समाज-रचना और समाज-व्यवस्था इस तरह की हो कि जिसमें प्रत्येक मनुष्य—स्त्री, पुरुष, बालक, बालिका, युवा, वृद्ध, सबके समानरूप से उत्कर्ष की पूरी सुविधा हो। उसमें न ऊँच नीच का, न छोटे-बड़े का, न जात-पाँत का, न अमीर-ग़रीब का, कोई भेद या लिहाज़ रहे। समान सुविधा और समान अवसर खुले रहने के बाद अपनी योग्यता, गुण, सेवा आदि के द्वारा कोई व्यक्ति यदि अपने आप आदरास्पद हो जाता है और लोग श्रद्धा से उसे बड़ा मानने लगें तो यह दूसरी बात है; परन्तु समाज-व्यवस्था में ऐसी कोई बात न रहेगी जिसके कारण किसी के सर्वांगीण विकास में रुकावट रहे।

परन्तु यह तो एक गोल-मोल बात हुई। 'सर्वोदय' में मनुष्य के विकास के लिए किन-किन आवश्यक या अनिवार्य वस्तुओं, भावों, नियमों या सुविधाओं का समावेश होता है, यह जानना ज़रूरी है।

मैं समझता हूँ 'सर्वोदय' में इतनी बातें आवश्यक रूप से आती हैं—(१) स्वास्थ्यकर और पुष्टिवर्द्धक यथेष्ट भोजन, (२) साफ़ और खुली हवा, (३) निर्मल और निरोगी पानी (४) शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक कपड़े, (५) खुला, हवादार और आरोग्य-वर्धक घर, (६) शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा और रोगनिवारण की सुविधा, (७) मनोरंजन और ज्ञानवृद्धि के साधन (८) और इस तरह के समाज-व्यवस्था के नियम, जिनसे कोई किसी को न दबा सके, न कोई किसी से अनुचित रूप से दब सके, न कोई बेकार रह सके, न कोई बिना मेहनत के धनसंग्रह कर सके। अर्थात् स्वस्थ, तेजस्वी, स्वावलम्बी, परस्पर सहयोगी, आत्म-रक्षा-क्षम, सुसंस्कारी, श्रमशील, निर्भय और प्रसन्न मानव-समाज का निर्माण 'सर्वोदय' का

हेतु है। यदि ऐसा मनुष्य-समाज कभी बन सका तो स्वभावतः ही उसमें किसी प्रकार की सरकार की—दंडभय से नियंत्रण करने वाली किसी शासन-संस्था की—ज़रूरत न रहेगी; अधिक-से-अधिक एक व्यवस्थापक मण्डल काफ़ी होगा, जो समाज पर हुकूमत नहीं करेगा, बल्कि समाज की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता रहेगा। इसमें यदि समाज-कार्य की सुविधा के लिए कुछ विभाग अलहदा-अलहदा रखना पड़े तो वे आजकल के अर्थ में जातियाँ या श्रेणियाँ (Classes) न रहेंगी; बल्कि भिन्न-भिन्न विभागों के काम की ज़िम्मेदारी लेनेवाले कार्यकर्त्ताओं का समूह होगा। जीवन की उन्नतिके लिए आवश्यक सुविधायें जहाँ सबको समान रूप से या यथेष्ट रूप से मिलेंगी वहाँ प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष को उस सुविधा या साधन-सामग्री के पैदा करने या बनाने में आवश्यक सहयोग या श्रमयोग भी देना पड़ेगा।

मैं समझता हूँ 'सर्वोदय' की कल्पना ठीक-ठीक आने के लिए यह रूप-रेखा अभी काफी होगी। शेष विस्तार की बातों को हमें इसी 'सर्वोदय' के प्रकाश में देखना और समझना होगा।

४

अब हमें समाजवादियों के सामाजिक आदर्श को समझना चाहिए। वे उसे 'वर्गहीन समाज' कहते हैं। आज समाज में धनी और ग़रीब; एक श्रम-जीवी और दूसरा परोपजीवी; एक पीड़क दूसरा पीड़ित; एक शोषक दूसरा शोषित—ऐसे दो वर्ग परस्पर विपरीत स्वार्थ रखने वाले बन गये हैं, वे न रहें—सिर्फ़ एक ही काम करनेवालों का समाज बन जाय। समाज-व्यवस्था ऐसी हो जिसमें कोई किसी का शोषण न कर सके और कोई किसी के साथ जुल्म-ज्यादती, मारकाट याने हिंसा न कर सके। ऐसे समाज के लिए स्वभावतः ही किसी शासन-संस्था की ज़रूरत न रहेगी।

अब मानव-समाज की इस आदर्श कल्पना से जहाँ तक ताल्लुक है, मैं समझता हूं दोनों की भाषाओं में भले ही अन्तर हो, बात दोनों एक ही कहते हैं। समाजवादी के सामने चूंकि ग़रीबों का पीड़न और शोषण बहुत अधिक है और उसे मिटाने के लिए वह बेज़ार है, इसलिए उसने

तदनुकूल भाषा बना ली है। वह यह समझता है कि समाज में आर्थिक-व्यवस्था स्वाभाविक और न्यायानुकूल न होने से ग़रीब पिसे जा रहे हैं और अमीर गुलछर्रे उड़ाते हैं, इसलिए वह इस बात पर जोर देता है कि आर्थिक-व्यवस्था ठीक होनी चाहिए और जो आर्थिक विधान वह उपयुक्त समझता है, वह इस प्रकार का है कि जिससे सारे समाज का ढांचा ही बदल देना पड़ेगा--इसलिए वह सामाजिक क्रान्ति की बात करके सामाजिक आदर्श को 'वर्गहीन समाज' नाम देता है। इससे भिन्न गाँधी जी सारे जगत के रहस्य का पता पाते हैं और उसको सामने रखकर जगत के और मानव-समाज के दुःखों का कारण ढूँढ़ते हैं और उनका स्थायी इलाज सुझाते हैं; इसलिए उनकी भाषा दूसरे प्रकार की है। उनकी भाषा के पीछे एक पूरा दर्शन है। वहाँ समाजवादी की और खासकर हिन्दुस्तानी समाजवादी की भाषा के पीछे शोषण को बन्द करने की व्याकुलता है। इसके सिवा मुझे कोई कहने लायक अन्तर इन दोनों आदर्शों में नहीं दिखाई देता। यदि यह कहें तो हर्ज न होगा कि समाजवादी अंग की बात करता है और गांधीवाद पूर्ण की। समाजवाद की मंजिल तय होने पर भी गाँधीवाद का बहुत काम बाक़ी बच रहता है। निश्चय ही समाजवादियों का यह दावा नहीं है कि उनके आदर्श का पूरा चित्र वे बना पाये हैं; परन्तु जितना वे बना पाये हैं उसी को सामने रखकर हमें विचार किये बिना गति नहीं है।

५

यह तो हुई दोनों के आदर्शों की बात। परन्तु आदर्शों के ज्ञान से ही काम नहीं चल सकता। उतना ही महत्वपूर्ण और उससे अधिक जटिल प्रश्न यह है कि उस आदर्श को प्राप्त कैसे किया जाय? यहां जाकर दोनों में मतभेद दिखाई देता है। समाजवादी की निगाह तो शोषण बन्द करने पर है; और गांधीवाद की नज़र सबकी आत्मीयता की रक्षा--सामञ्जस्य--पर है। इसलिए गाँधीवाद को यह भी सोचना और देखना पड़ता है कि शोषण तो ज़रूर मिटे; परन्तु कहीं वह इस तरह से तो नहीं मिट रहा है

कि सर्वोदय—आत्मीयता के मूल को धक्का पहुँच जाय। हाथ यदि सड़ गया है, तो शौक से काट डालिए, किन्तु यह तो देख लीजिए कि कहीं बीमार का प्राण न निकल जाय या उसके किसी दूसरे अंग को इतना धक्का न लग जाय जिससे सारा शरीर धीरे-धीरे बिगड़ जाय! दुनिया के समाजवादी तो कहते ही हैं कि खूनखराबी करके भी क्रान्ति कर दो और सत्ता हाथ में लेकर इस शोषण का जल्दी-से-जल्दी अन्त कर दो; परन्तु गांधीवाद कहता है—नहीं, ऐसा करोगे, तो आज शोषण का अन्त होता हुआ भले ही दिखाई दे, इस खून-खराबी से जो प्रतिहिंसा की भावनायें प्रबल होंगी वे शक्तियाँ मौका पाते ही तुम्हारी व्यवस्था में दखल देकर तुम्हारे बनाये ढांचे को बिगाड़ देंगी। इसके अलावा वह सर्वोदय के आदर्श और आत्मीयता की वृत्ति के विपरीत है। एक आत्मीय दूसरे को सुधारेगा, उसका नाश नहीं चाहेगा। अब चूँकि समाजवादी के सामने सर्वोदय या आत्मीयता नहीं है, स्वभावतः उसकी समझ में सहसा नहीं आता कि गांधीजी क्या कहते हैं और क्या चाहते हैं? यद्यपि समाजवादी अपने आदर्श-समाज में हिंसा को बिलकुल स्थान नहीं देता है, तथापि आरम्भ में और सन्धिकाल में वह हिंसा को आवश्यक मानता है; किन्तु गांधीवाद में शुरू से अखीर तक हिंसा त्याज्य है। हां, हिन्दुस्तानी समाजवादी ज़रूर क्रान्तिकाल और संधिकाल दोनों में हिंसा का आश्रय लेना नहीं चाहता है; किन्तु वह तो इसलिए कि हिन्दुस्तान में हिंसा की गुंजाइश आगे भी बहुत काल तक उन्हें नहीं दिखाई देती है। इसमें कोई शक नहीं कि ९९ फीसदी कांग्रेसियों ने भी अहिंसा को मजबूरी से ही अपनाया है; किन्तु अब कांग्रेसी और कांग्रेस समाजवादी दोनों में ऐसे विचारशील लोग बढ़ते जा रहे हैं जिनकी बुद्धि और संस्कृति दोनों ने हिंसा की अपेक्षा, एक कारगर बल के रूप में, अहिंसा की श्रेष्ठता को मान लिया है। यही नहीं, भारत की इस बेबसी और गुलामी ने भारत को अहिंसा देकर उसका ही नहीं, सारे जगत का उपकार किया है और दूसरे देशों के लोगों को भी 'अहिंसा' के रूप में एक नया और हिंसा से अच्छा बल

मिला है, जिसका प्रमाण है कई देशों में रक्तपात-हीन क्रान्तियों का हो जाना। प्रायः सभी देशों के विचारवान लोगों की बुद्धि ने अहिंसा की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया है, राजनीतिज्ञों को भी 'अहिंसा' ने आकर्षित किया है; किन्तु कोई उदाहरण सामने न होने से उन्हें इसके आज ही व्यवहारोपयोगी होने में सन्देह है।

सो सबसे बड़ा मतभेद जो साधन के सम्बन्ध में गांधीवाद और समाजवाद में है, वह तो है क्रान्तिकाल और सन्धिकाल में हिंसा के स्थान के सम्बन्ध में। परन्तु हिन्दुस्तानी समाजवादी के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। इसलिए यों आज यह भेद भी व्यावहारिक राजनीति का प्रश्न नहीं रह गया है। चाहे किसी ने धर्म के रूप में अहिंसा को अपनाया हो, चाहे किसी ने व्यवहार-नीति के रूप में। अब भारत में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न तभी उग्र और विकट रूप धारण कर सकता है जब किसी न किसी तरह सफलतापूर्वक हिंसा-प्रयोग की सम्भावना अधिकांश राजनैतिक पुरुषों को दिखाई दे जाय। तबतक यह हमारे स्वभाव, वृत्ति या स्पिरिट के अनुसार हमारे कार्यों, दिलों और पारस्परिक सम्बन्धों पर थोड़ा-बहुत असर भले ही डालता रहे, इससे आपस में किसी भारी संघर्ष, फूट या झगड़े की सम्भावना नहीं है।

हाँ, आगे चलकर, और खासकर स्वराज्य-सत्ता हाथ में आजाने पर, इस मतभेद का महत्व बढ़ सकता है। परन्तु यह भी इस बात पर अवलम्बित रहेगा कि हमें स्वराज्य किस साधन से मिला है। यदि हिंसात्मक साधनों से प्राप्त हुआ है तो फिर अहिंसा तो राजनीति में उसके पहले ही मर चुकी होगी, इसलिए, उसके बाद तुरन्त ही उसके जी उठने की कल्पना करना फ़िजूल है; परन्तु यदि अहिंसात्मक साधनों से हुई है और मुझे विश्वास है कि अहिंसात्मक-क्रान्ति से ही हमें स्वराज्य मिल जायगा तो फिर अहिंसावृत्ति की ही प्रधानता हमारे स्वराज्य के विधान में रहेगी, यह निर्विवाद है। इसलिए उसमें प्रत्यक्ष और शारीरिक हिंसा का तो सवाल ही न उठेगा; हाँ, क़ानून द्वारा भी किसी वर्ग-विशेष को दबाया

जाय या नहीं, यह प्रश्न अलबत्ते विवादग्रस्त हो सकता है। समाजवादी तो कहते ही हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार किसी को न रहना चाहिए। इधर गाँधीजी भी अपरिग्रह के पुजारी हैं। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति तो ठीक, अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह को भी चोरी मानते हैं। तो दोनों इस बात पर तो सहमत ही हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे; परन्तु यदि लोग हमारे कहने से और उपदेश से न छोड़ें तो ? तो समाजवादी कहेगा, क़ानून बना दो, जिससे ऐसा अधिकार किसी को न रहे। अब यदि बहुमत समाजवादियों का हुआ तो जबतक लोकतंत्रीशासनप्रथा रहेगी तबतक उन्हें ऐसा क़ानून या विधान बनाने से कैसे रोका जा सकता है ? परन्तु प्रश्न तो यह है कि गाँधीवाद ऐसे अवसर पर क्या सलाह देगा ? बहुमत का अल्पमत पर यह दबाव हिंसा है या नहीं, और यदि है तो क्या किया जाय ? खेती आदि में जैसी अपरिहार्य हिंसा होती है, वैसी ही इसे मानलें या दूसरा अहिंसक उपाय बताया जा सकता है। मैं समझता हूँ समय आने पर गाँधीवाद कोई अहिंसक उपाय अवश्य ढूँढ लेगा। यह भी सम्भव है कि उस समय सारे वातावरण के अहिंसा प्रधान हो जाने का यह असर हो कि सम्पत्तिवानों का हृदय इतना ऊँचा उठ जाय और वे ऐसे किसी विधान का विरोध न करें। सम्भव है, गाँधीजी की ट्रस्टी बनने की सलाह उन्हें और तत्कालीन समाज को पसन्द आजाय। किन्तु उस समय क्या होगा और कौन क्या करेगा, इसका निर्णय आज करना कठिन है।

६

हिंसा-अहिंसा के प्रश्न का निपटारा इस तरह होजाने के बाद अब दूसरा मतभेद का सवाल है मशीनरी का। समाजवादी उद्योगवाद में विश्वास रखता है; और गाँधीवाद गृह-उद्योगों को मानता है। एक कहता है बड़े-बड़े कल-कारख़ानों के बिना समाज का काम न चलेगा। कल या कारख़ाने में कोई दोष नहीं है, जो कुछ ख़राबी है वह तो यह कि उत्पादन के साधनों पर व्यक्तियों का स्वामित्व है। उसके एवज़ में यदि राज्य या समाज के हाथ में उसका स्वामित्व दे दिया जाय तो बड़े कल-कारख़ानों के

रहते हुए भी कोई किसी का शोषण न कर सकेगा । किन्तु गाँधीवादी इसके विपरीत कहता है कि व्यक्तिगत स्वामित्व ही अकेला दोषी नहीं है; मशीनरी खुद भी, कारखाना खुद भी, एक हद तक दोषी है और जिस हद तक वे दोषी हैं उस हद तक उनमें या उनकी प्रणाली में भी सुधार करना होगा । यह मतभेद इस बात से पैदा होता है कि आदर्श समाज में हम मनुष्य को कैसा देखना चाहते हैं । पश्चिम के लोगों की तरह भोग-प्रधान या पूर्व की संस्कृति के अनुसार संयम-प्रधान । असल में यह प्रश्न संस्कृति से संबंध रखता है और संस्कृतियाँ बरसों में बनती और बरसों में बिगड़ती हैं । पूर्वी संस्कृति में संयम ज़बरदस्ती नहीं आ घुसा है । हज़ारों वर्षों के भोगमय जीवन के बाद अनुभव से उसकी जड़ जमी है और उसे हमें खोदने का उद्योग तबतक न करना चाहिए जबतक हमने संयम को बिल्कुल निकम्मा और भोग को सब तरह अच्छा न पा लिया हो ।

हाँ, इसमें गाँधीवाद निसंन्देह संयमवादी है और समाजवाद का झुकाव भोगवाद की तरफ दीखता है । परन्तु हिन्दुस्तानी समाजवाद पश्चिम की तरह ही भोगवाद की तरफ बढ़ेगा, इसमें मुझे सन्देह है । क्योंकि आखिर वह भी तो उसी पूर्वी संस्कृति की उपज है । और यह भोग और संयम का प्रश्न एक समाजवादी के नज़दीक उतने महत्व का या तीव्र नहीं है जितना कि शोषण और पीड़न का है और संयम या भोग का प्रश्न भी तभी तीव्रता से सामने आवेगा जब शोषण को मिटाने का सामर्थ्य हमारे हाथ में आजावेगा । हिन्दुस्तानी समाजवादी शायद भोग को उतना न चाहेगा जितना वह जनता के जीवन-स्टैंडर्ड को ऊँचा उठाना चाहेगा । परन्तु इसमें तो गांधीवाद का उससे मतभेद नहीं है । गाँधीवाद भी यह तो मानता है कि जनता का वर्तमान स्टैण्डर्ड वह नहीं है जो एक आदर्श मनुष्य का होना चाहिए । परन्तु उसका कहना है कि जबतक स्टैण्डर्ड बढ़ाने की सत्ता और अनुकूलता हमारे हाथ में न हो तबतक जनता में उच्च-स्टैण्डर्ड की भूख पैदा करना कार्य-साधक न होगा । बल्कि कार्य-कर्त्ताओं को अपना स्टैण्डर्ड घटाकर उनमें घुल-मिल जाना चाहिए और

हमें उन्हें अपने से पृथक् और बड़ा न अनुभव होने देना चाहिए। सच्ची समानता का भाव तो यह है और यदि हम उनके दुःखों से पीड़ित हैं तो हमारी व्यावहारिक सहानुभूति यही हो सकती है कि हम अपना रहन-सहन भरसक उनसे मिलता-जुलता रखें। इसके विपरीत समाजवादी की दलील है कि मेरे अकेले के सब कुछ छोड़ देने से सारा समाज कैसे बदल जायगा? जब सारा समाज एक-सा हो जायगा तब मैं भी अपनी सम्पत्ति छोड़ दूँगा। गाँधीवाद कहता है पहले उनमें मिलो फिर उनके साथ सब मिलकर, ऊँचे उठो। यह एक सीधी और मोटी-सी बात है कि यदि मैं किसी बात को ठीक मानता हूँ तो मेरे जीवन और आचरण से भी वह बोलनी चाहिए—नहीं तो मेरी बात की सचाई किसी को कैसे जँचेगी?

इस तरह मशीन का प्रश्न असल में भोगवाद की प्रवृत्ति या जीवन स्टैण्डर्ड से सम्बन्ध रखता है। और इसका फैसला मनुष्य अपने-अपने संस्कारों के अनुसार ही करेंगे। संयमवादी होते हुए भी भारत में क्या भोगी लोग नहीं हैं? जो उद्योगवाद चाहते हैं उनका कहना यह है कि इससे मनुष्य की सुख-सुविधा की वृद्धि होगी। गाँधीवाद कहता है कि बेकारी, परावलम्बिता, शोषण, कई बीमारियाँ, नैतिक-पतन, इनका यह जन्मदाता या पोषक है। हाथ से काम करनेवाला मनुष्य स्वस्थ, स्वावलम्बी, निर्भय और स्वतंत्र रहता है। अधिक बौद्धिक या शारीरिक सुख-विलास से मनुष्य बोदा बन जाता है और आदर्श मनुष्य-समाज का मनुष्य सत्ववान सबसे पहले होना चाहिए। गाँधीवाद यह नहीं कहता कि मशीन-मात्र बुरी है; वह सिर्फ इतना ही कहता है कि भाफ से चलने वाले बड़े-बड़े यन्त्र, जिनसे कई लोगों का काम एक आदमी करके कइयों को बेकार बना देता है, और जिनके कारण मज़दूर एक जगह एकत्र होकर कई बुराइयों और व्यसनों में फँसकर अपना जीवननाश करते हैं, समाज के लिए हानिकर है। मनुष्य को बेकार बनाकर और मानव-शक्ति को बेकार पड़ी रहने देकर यन्त्रों से काम लेना आर्थिक दृष्टि से भी उलटी रीति है। इसलिए असल में होना यह चाहिए कि पहले समाज के सारे मनुष्यों से

काम लो फिर जो काम या चीज़ें ऐसी बच रहें जो समाज की आवश्यकता के लिए बहुत ज़रूरी हों; पर जिन्हें वे न बना सकें या उनकी शक्ति के बाहर हों, वे शौक से यन्त्रों से बनाई जावें और उनके कारखाने खोले जावें।

किन्तु यह मौलिक-सा मतभेद रहते हुए भी हिन्दुस्तानी समाजवादी मानता है कि ग्राम-उद्योगों को भारत की आर्थिक व्यवस्था में काफ़ी स्थान है; इधर व्यावहारिक गाँधीवादी भी यह समझता है कि आज बड़े-बड़े कल-कारखाने और उनकी प्रथा मिट जानेवाली नहीं है; इसलिए दोनों में इस कारण से तीव्र संघर्ष होने की संभावना मुझे नहीं दिखाई देती है। कम-से-कम जबतक स्वराज्य नहीं आजाता है तबतक यह मतभेद भी समझौता करता रहेगा।

यह तो गाँधीवाद और समाजवाद दोनों मानते हैं कि आदर्श-समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे। परन्तु इसके व्यावहारिकरूप में दोनों का मतभेद है। समाजवाद चाहता है कि क़ानून बनाकर इसे बिल्कुल नाजायज़ क़रार दे दिया जाय। गांधीवाद कहता है कि व्यक्ति सम्पत्ति का संग्रह भले करे; पर वह उसका स्वामी न बने, ट्रस्टी बनकर रहे। अर्थात् वह अपने उपभोग की सामग्री उसे न समझे, समाज के उपयोग में लाने की चीज़ समझे। गाँधीजी प्रायः भीतर से सुधार करने कराने के पक्ष में रहते है, ऊपर से—क़ानून द्वारा—दबाकर कराना उन्हें स्थायी उपाय नहीं मालूम होता। भीतर से सुधार कराने के मानी होते हैं खुद मनुष्य के ही मन में अच्छा बनने की तीव्रता पैदा कर देना। अपने आचरण, उपदेश और संगी-साथियों के जीवन से ऐसा वातावरण बना देना कि जिससे मनुष्य अपने-आप अच्छा बनने लगे। शुद्ध, स्वाभाविक और अहिंसामय तरीक़ा यही हो सकता है। बल्कि इसके विपरीत क़ानून बनाने से मनुष्य स्वेच्छा से उसका लाभ और उपयोग समझकर उसे नहीं ग्रहण करता, मजबूरी से दबकर ग्रहण करता है और उसके दिल में कसक रह जाती है जो उसे अन्तःकरण से वफ़ादार नहीं रहने देती। अतः यदि आरम्भ में हमें क़ानून का आश्रय लेना ही पड़े तो ज्यों-ज्यों हम सन्धिकाल को पार

करते जायँ त्यों-त्यों हमें भीतरी सुधार पर अधिक और बाहरी दबाव पर कम ज़ोर देते रहना होगा।

इसका मज़ाक-सा उड़ाते हुए बाज-बाज लोग पूछ बैठते हैं, गाँधीजी के इस सिद्धान्त के अनुसार उनके कितने साथियों ने अपनी सम्पत्ति खुद छोड़ दी है और अपने को उसका ट्रस्टी बना लिया है ? यह सवाल पूछकर वे ट्रस्टीपन के विचार की असम्भवता बताना चाहते हैं। इसका उत्तर तो यही है कि किसी चीज़ को सम्भव बताना या उसका मखौल उड़ाना कोई दलील नहीं हुआ करती। उपयोगिता या अनुपयोगिता, हानि या लाभ बताना चाहिए। कितनों ने इसको अपनाया, इसके जवाब भिन्न-भिन्न होंगे। १९१८ में गांधीजी से कोई पूछता कि खादी पहननेवाले और कातनेवाले तुम्हारे कितने साथी हैं तो इसका जवाब ज़रूर ही आज से भिन्न मिलता। गांधीजी के तो बहुतेरे साथी अपरिग्रही हैं, जिन्होंने अपने धन-दौलत और जायदाद को लात मार दी है और ऐसे धनी अनुयायी भी हैं जो ट्रस्टी की भावना से ही अपनी सम्पत्ति का उपयोग समाज और देश की सेवा में कर रहे हैं। परन्तु यदि ऐसा कोई एक भी साथी न हो तो इससे क्या मूल सिद्धान्त की उपयोगिता को आँच आ सकती है ?

फिर दबाव से काम लेने का पक्षपाती अक्सर वही देखा जाता है जो खुद दबाव में आकर ही अधिक काम करता हो, या जिसमें अधिक धीरज, सहनशक्ति, मिठास और क्षमाशीलता न हो; या जिसे हुकूमत से ही काम कराने की आदत हो। किन्तु ऐसे व्यक्ति या समुदाय को यह मानने की भूल न करनी चाहिए कि उसकी यह वृत्ति अहिंसा के अनुकूल है। यदि हमें आदर्श समाज में से हिंसा को सचमुच हटा देना है, नहीं, मैं तो यह भी कहूँगा कि हमें सचमुच किसी ऐसे आदर्श समाज की कल्पना से प्रेम है जिसमें शासन-संस्था जैसी चीज़ न रहे, जिसमें सचमुच जनता सुखी, स्वाधीन और उन्नतिशील रहे, तो हमें बाहरी दबावकी अपेक्षा भीतरी सुधार की तरफ़ ही ज्यादा ध्यान दिये बिना गति नहीं है।

परन्तु सवाल यह किया जाता है कि ट्रस्टी बनने के मानी आखिर

क्या हैं ? सम्पत्ति पर या उत्पादन के साधन पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अधिकार तो क़ायम रहा ही। और ऐसा अधिकार क़ायम रखने की भी आख़िर क्या जरूरत है ? कानूनन यह अधिकार छीनना यदि दबाव है और दबाव हिंसा है, इसलिए त्याज्य है, और दूसरी तरफ आपके समझाने-बुझाने, उपदेश और उदाहरण से भी लोग न मानें तो उन्हें मनवाने का क्या उपाय आपके पास है ? अधिकार उन्हें दिया भी जाय तो कितना ?

मैंने जहाँतक समझा है, ट्रस्टी बनने की सूचना 'वर्गहीन-समाज' का आवश्यक फलितार्थ है। वर्गहीन समाज में सरकार तो रहेगी नहीं; परन्तु ज़मीन, छोटे-बड़े कारखाने, मकान, कला-भवन, आदि तो रहेंगे ही। आख़िर किसी-न-किसी के चार्ज में इनके रहे बिना गति नहीं है। तो जिनके चार्ज में ये रहेंगे उनका इनसे क्या सम्बन्ध रहेगा ? किसीके दबाव से तो कोई उनका चार्ज लेगा नहीं, क्योंकि दबाव रखने वाली सरकार तो रहेगी नहीं। अपनी खुशी से ही लोग उनको अपने चार्ज में रक्खेंगे। वे क्यों रक्खेंगे—या तो मुनाफ़ा उठाने के लिए या समाज की सेवा के लिए। उनकी सम्भाल रखने में जितना खर्च होगा और सम्भाल रखनेवाले के निर्वाह के लिए जितना आवश्यक होगा उतना धन तो उसे मिलना ज़रूरी है। अब सरकार के अभाव में उन्हें वेतन देनेवाला तो कोई रहेगा नहीं, तब मुनाफ़े के ही रूप में वह खर्च वह लेगा। हाँ, शोषण उसमें न रहेगा। इस मुनाफ़े पर तो ऐतराज़ किया ही कैसे जा सकता है ? आवश्यकता से अधिक मुनाफ़ा न लेना, यह उसकी समाज-सेवा की वृत्ति हुई। अब या तो वह इन चीज़ों का मालिक बनकर रह सकता है या समाज की तरफ़ से उनका ट्रस्टी बनकर। मालिक बनाना आप चाहते नहीं, तो फिर ट्रस्टी बने बिना दूसरा क्या रास्ता है ? ट्रस्टी के माने मालिक नहीं, समाज की तरफ़ से उस वस्तु का चौकीदार। मालिक तो सारा समाज है या वह व्यक्ति मालिक बनने का अधिकारी समझा जा सकता है जिसके परिश्रम ने उस वस्तु को खड़ा किया है। यदि मालिकाना हक़ रहा भी तो वह नाम-मात्र का रहेगा, स्पिरिट तो ट्रस्टी की ही रह

सकती है। यह न भूलिए कि 'वर्गहीन समाज' उसी दशा में सम्भव हो सकता है जब मनुष्य आज से बहुत ऊँचा उठ गया होगा, क़रीब-क़रीब वह देव बन गया होगा। यदि आप वर्गहीन समाज को सम्भव मानते हैं तो फिर उस समाज के मनुष्य की ईमानदारी पर आपको इतना विश्वास भी रखना होगा, इतने ईमानदार मनुष्य की ही कल्पना करनी होगी जो या तो मालिक रहते हुए भी ट्रस्टी की स्पिरिट रक्खेगा या मालिक होना न चाहकर ट्रस्टी और समाज का एक सेवक ही रहेगा। जबतक आप किसी सरकार की आवश्यकता अनुभव करते हैं तबतक न तो 'वर्गहीन' समाज की स्थिति की ही कल्पना कीजिए, न शोषण बन्द होने की। आप यह क्यों मान लेते हैं कि सन्धि-काल में जबतक सरकार रहेगी तबतक उसके सूत्र सञ्चालक या शासक तो देवता लोग होंगे और दूसरे दानव या बेईमान? आप इस बात को क्यों आसानी से भुला देते हैं कि ज्यों-ज्यों राज्य-सत्ता केन्द्रित होती गई है त्यों-त्यों शोषण अधिक होता चला गया है? जिसे हमारे साम्यवादी भाई 'प्रिमिटिव कम्यूनिज्म' कहते हैं उस समय शोषण था? वह कब आया और कसे-कैसे बढ़ता गया? तो आप इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि उसका कारण सत्ता का केन्द्रीकरण अर्थात् साम्राज्य-वाद है। आपने यह कैसे मान लिया कि किसानों और मज़दूरों के प्रतिनिधि ज़ालिम या शोषक न बन जायँगे? जिन्हें हम राजा, धनी, ज़मींदार और शोषक या पीड़क वर्ग कहते हैं, ये कहाँ से आये हैं—इन्हीं किसानों और मज़दूरों में से ही तो धीरे-धीरे ये वर्ग निर्माण हुए हैं और जब इनके हाथ में सारी सत्ता आगई तो यही शोषक और पीड़क बन गये। इसका असली उपाय यह नहीं है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे, या उत्पादन के साधनों पर व्यक्तियों का स्वामित्व न रहे, बल्कि यह है कि समाज में शासन और धनोपार्जन की सत्ता केन्द्रीय शक्ति के हाथ में न रहे और यदि रही तो उसके सदुपयोग और दुरुपयोग का आधार बहुत-कुछ उस व्यक्ति की सज्जनता या दुर्जनता पर अवलम्बित रहेगा जिसके पास वह सत्ता रहेगी। यदि जनता को शोषण से बचाना है, उसे स्वतन्त्र दबंग

बनाना है तो केन्द्रीय-सत्ता को मिटाकर जनता में ही उसे फैलाना होगा।

६

यदि लोगों ने हमारी बात न मानी तो हम क्या करेंगे ? यह प्रश्न सन्धि-काल में ही उठ सकता है। आदर्श समाज अर्थात् वर्गहीन समाज तो प्रकृति के साथ सामंजस्य रखनेवाला ही होगा। सरकार न रहने से किसी की बात मानने मनवाने का सवाल ही नहीं उठता। उसमें तो यही कल्पना की जा सकती है कि सब लोग अपना-अपना फ़र्ज़ और ज़िम्मेवारी अच्छी तरह समझते होंगे और अपने आप ईमानदारी से उनका पालन करते होंगे। परन्तु सन्धि-काल में क़ानून, फ़ौज, जेलखाने सब रखने होंगे। हां, समाज जैसे जैसे आदर्श की ओर बढ़ता जायगा तैसे-तैसे इनका दबाव कम होता जायगा और मनुष्य एक व्यक्ति तथा सामाजिक प्राणी के रूप में अधिकाधिक आदर्श बने, इसमें उसका उपयोग होता जायगा। यदि आपने यह कल्पना की हो कि सन्धि-काल में निःशस्त्र फौज रहेगी और क़ानून द्वारा भी किसीको दबाना नहीं है तो आपका 'सत्याग्रह' शस्त्र कहाँ चला गया है ? या तो आप इस सत्याग्रह के द्वारा—जिसमें जेल जाने से लेकर आमरण अनशन तक की तीव्रता भरी हुई है—स्वराज्य को शक्य मानिए, या हिंसाबल के द्वारा। यदि सत्याग्रह के द्वारा शक्य मानते हैं, और उसके द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य को पराजित कर देते हैं तो क्या फिर हिन्दुस्तान में और शोषकों का सामना आप उसके द्वारा न कर सकेंगे ? यदि आप हिंसा-बल के द्वारा शक्य मानते हैं तो फिर मौजूदा सरकार की तरह अपनी इच्छा को मनवाने के सब दमनकारी साधन आपके पास हैं ही।

कितना अधिकार दिया जाय—यह कोई सौदे की बात तो है नहीं। ट्रस्टी बनने की कल्पना में व्यक्तिगत स्वामित्व का रहना अनिवार्य नहीं है। रहा भी तो नाम-मात्र का, जिससे ट्रस्टी कभी-कभी अपने मन में खुश हो लिया करे कि मैं मालिक भी हूँ। यदि कारख़ाने छोटे-छोटे रहे, उत्पादन के साधन बहुतेरे हाथों में बंटे रहे तो उसमें स्वामित्व का अधि-

कार रहने देने में उतनी बुराई नहीं है जितनी इस अधिकार के एक या थोड़े व्यक्तियों के हाथ में देने से हो सकती है। थोड़े लोगों के हाथ में रहने से संगठित शोषण जल्दी और अधिक हो सकता है। अधिकतर लोगों के हाथों में रहने से शोषक को इतने सारे लोगों को अपनी योजना का भागी बनाये बिना चारा नहीं है और यह ज्यादा कठिन है। फिर यदि ऐसे व्यक्ति के पास सत्ता न रहे तो उसके लिए कठिनाई और भी ज्यादा हो जाती है। आज भी पूँजीवाद साम्राज्यवाद यानी सत्ता की सहायता के अभाव में अपना शोषण जारी नहीं रख सकता। इसलिए एक तरह से तो, उन लोगों ने जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था चलाई थी, बड़ी बुद्धिमत्ता की थी कि जिसको सत्ता दी, उसे धनोपार्जन का अधिकार नहीं दिया, जिसे धनोपार्जन की छुट्टी दी उसके पास सत्ता नहीं दी।

फिर कितना स्वामित्व का अधिकार देना, किस विधि से देना, मुआवज़ा देना या नहीं, ये सब विगत की बातें हैं और जब उचित अवसर आवेगा तब इनका निपटारा कर लिया जायगा। व्यावहारिक कार्यक्रम हमेशा परिस्थिति पर आधार रखता है और उसके अनुसार बदलता रहता है। आदर्श, सिद्धान्त और नीति हम आगे से तय कर सकते हैं और कर लेनी चाहिए। सो यदि हम इस बात में सहमत हैं—गांधीवाद और समाजवाद दोनों कि हमें ग़रीबों के शोषण का अन्त कर देना है और परोपजीवी वर्ग को भी इस अधोगति से उठाकर स्वाभिमानी और स्वावलम्बी बना देना है तो हमें दोनों की ईमानदारी पर इतना विश्वास भी रखना चाहिए कि जब समय आवेगा तो हम इसका राजमार्ग ढूँढ़ लेंगे। यदि ट्रस्टीपन का हल हानिकर दीखेगा तो गांधीजी या उनके अनुयायियों के लिए वह सत्य और अहिंसा की तरह अटल सिद्धान्त नहीं है—इससे ज्यादा अच्छा निर्दोष उपाय कोई बतावेगा तो अवश्य उस पर अमल कर लिया जायगा।

१०

समाजवाद और गांधीवाद में 'वर्गयुद्ध' एक बड़ा मतभेद का प्रश्न

है। साम्यवादियों का कहना है पीड़क और पीड़ित, शोषक और शोषित दो वर्ग हैं और इनके हित परस्पर-विरोधी हैं। इसलिए इन दो का ही वर्ग बन जाना चाहिए। अर्थात् सबको काम करनेवाला बनकर ही रोटी कमाना चाहिए, दूसरों के परिश्रम का लाभ न उठाना चाहिए, जिससे ग़रीब और अमीर में इतनी बड़ी खाई न रहे। हिन्दुस्तानी समाजवादी इस स्थिति को 'दबाव' के द्वारा भी बदला चाहता है; किन्तु दबाव का आश्रय तभी लेना चाहता है जब समझाने-बुझाने का रास्ता बन्द हो जाय। सो भी 'दबाव' का अर्थ 'क़ानून का दबाव' ही हो सकता है; क्योंकि जब तक वह कांग्रेस के अहिंसात्मक ध्येय से बंधा हुआ है तबतक प्रत्यक्ष शस्त्र के द्वारा दबाव का सवाल ही नहीं उठता। क़ानूनी दबाव का अर्थ भी बहुमत का अल्पमत पर दबाव हो सकता है, जो कि लोकतंत्रीय-पद्धति में 'अनिवार्य-दोष' समझा जाता है।

फिर 'युद्ध' से अभिप्राय यहां व्यक्ति से नहीं, पद्धति से है। हम गांधीवादी और कांग्रेसी भी तो हमारे आन्दोलन को अहिंसात्मक संग्राम, सत्याग्रह-युद्ध, इस तरह फ़ौजी-भाषा में पुकारते हैं। इसी तरह 'वर्गयुद्ध' को भी क्यों न समझें ?

११

जिस तरह गांधीवादी 'वर्गयुद्ध' से भड़कते हैं उसी तरह समाजवादी गांधीजी के 'राम-राज्य' शब्द पर बिगड़ उठते हैं। जैसे 'सत्याग्रह' गांधीजी का जीवनादर्श, 'सर्वोदय' सामाजिक आदर्श है वैसे ही 'राम-राज्य' उनका शासनादर्श है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई एक साम्राज्य हो, और उसका कोई चक्रवर्ती राजा हो। राम-राज्य न्याय और प्रजाहित के लिए प्रसिद्ध था। यही वृत्ति शासकों की गांधीजी के राम-राज्य में रहेगी। दूसरे शब्दों में यह कहें तो "राम-राज्य" न्याय और प्रेम का राज्य होगा। उसमें एक ओर बेशुमार धन-सम्पत्ति और दूसरी ओर करुणाजनक फ़ाकेकशी नहीं हो सकती; उसमें कोई भूखा नहीं मर सकता; उसका आधार पशु-बल न होगा; बल्कि वह लोगों के प्रेम और

स्वेच्छापूर्वक दिये गये सहयोग पर अवलम्बित रहेगा। राम-राज्य करोड़ों का और करोड़ों के सुख के लिए होगा। उसके विधान में जो मुख्य अधिकारी होगा वह चाहे राजा कहा जाय या अध्यक्ष अथवा और कुछ, प्रजा का सच्चा सेवक होने के कारण उस पद पर होगा। प्रजा की प्रीति से वहाँ रहेगा और उसके कल्याण के ही लिए सदा प्रयत्न करता रहेगा। वह लोगों के धन पर आमोद-प्रमोद न करेगा और अधिकार-बल से लोगों को न सतावेगा; बल्कि राजा या उसके जैसा कहलाते हुए भी एक फ़क़ीर की तरह रहेगा। राम-राज्य का अर्थ है कम-से-कम नियन्त्रण। उसमें लोग अपना बहुतेरा व्यवहार आपस में ही मिल-जुलकर अपने आप कर लिया करेंगे। उसमें ऐसी स्थिति प्रायः न होगी कि क़ानून बनाकर अधिकारियों द्वारा दण्ड-भय से उनका पालन कराया जाय। उसमें सुधार करने के लिए लोग धारा-सभा या अधिकारियों की राह देखते न बैठे रहेंगे। बल्कि लोगों ने जिन सुधारों को रूढ़ कर दिया होगा उनके अनुकूल धारा-सभायें खुद ही ऐसे क़ानूनों में सुधार करने और अधिकारीगण उनका अमल कराने की व्यवस्था करेंगे।

राम-राज्य में खेती का धन्धा तरक्क़ी पर होगा और दूसरे तमाम धन्धे उसके सहारे कायम रहेंगे। अन्न और वस्त्र के विषय में लोग स्वाधीन होंगे और गाय-बैल की हालत भी बहुत अच्छी होगी, जिससे आदर्श गो-रक्षा की व्यवस्था होगी। राम-राज्य में सब धर्म और सब वर्ग समानभाव से मिल-जुलकर रहेंगे और धार्मिक झगड़े, क्षुद्रस्पर्धा अथवा विरोधी स्वार्थ जैसी कोई वस्तु न होगी।

राम-राज्य में स्त्रियों का दरजा पुरुषों के ही बराबर होगा। राम-राज्य में कोई सम्पत्ति या आलस्य के कारण निरुद्यमी न होगा। मेहनत करते हुए भी कोई भूखों न मरेगा; किसीको भी उद्यम के अभाव में मजबूरन आलसी न बनना पड़ेगा। राम-राज्य में आन्तरिक कलह न होगा; और न विदेशी के साथ ही लड़ाई होगी। उसमें दूसरे देशों को लूटने की, जीतने की या व्यापार-धन्धों अथवा नीति का नाश करनेवाली राजनीति

अस्वीकृत होगी। दूसरे राष्ट्रों के साथ उनका मित्र-भाव होगा। इस कारण राम-राज्य में सैनिक खर्च कम-से-कम होगा। राम-राज्य में लोग केवल लिख-पढ़ ही न सकेंगे, बल्कि सच्चे अर्थ में शिक्षा पाये हुए होंगे—अर्थात् उन्हें ऐसी शिक्षा मिलती रहेगी जो मुक्ति (परम-स्वतन्त्रता) देनेवाली और मुक्ति में स्थिर रखने वाली हो।

राम-राज्य की यह रूपरेखा श्री किशोरलाल मशरूवाला के 'गाँधी विचार दोहन' से दी गई है। यद्यपि इसमें शासन और समाज दोनों के आदर्शों का मिश्रित चित्र आ गया है, तथापि, यदि इन दोनों का हम पृथक्-पृथक् विचार करें तो कहना होगा कि राम-राज्य शासन का और सर्वोदय समाज का आदर्श हो सकता है। अर्थात् इसमें सन्धिकाल की उत्तम शासन-व्यवस्था का चित्र खींचा गया है, न कि आदर्श-काल के पूर्ण समाज की स्थिति का दर्शन कराया गया है। इतने स्पष्टीकरण के बाद मैं नहीं समझता कि किसी हिन्दुस्तानी समाजवादी को 'राम-राज्य' से क्यों असन्तोष रहना चाहिए।

१२

इनके अलावा ईश्वर और धर्म के विषय में भी समाजवाद और गांधीवाद में मतभेद है। समाजवाद ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता। धर्म को वह ढोंग और समाज के लिए ज़हर मानता है। परन्तु हिन्दुस्तानी समाजवादी इस विषय में चुप हैं। हाँ, उनके नेता पं० जवाहरलालजी ने अपने लिए यह ज़रूर कहा है कि यदि सदाचार का नाम धर्म है तो मैं भी अपनेको धार्मिक कह सकता हूँ। गांधीवाद नीतिमूलक धर्म को ही धर्म मानता है। हाँ, आस्तिक होने के कारण उसमें ईश्वरोपासना को भी स्थान है और इसलिए उपासना की विविधता उसको ग्राह्य है। परन्तु हिन्दुस्तानी समाजवादी आज इसे आन्दोलन का विषय नहीं बना रहे हैं, इसलिए इसपर यहाँ अधिक लिखने की ज़रूरत नहीं। हाँ, इतना स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि धर्म के बाह्याचार को और ऊपरी विधि-विधानों को गांधीवाद में धर्म का आवश्यक अंग नहीं माना गया है। इसी तरह ईश्वर सत्य

का दूसरा नाम माना गया है; सत्य की पूर्ण सिद्धि का ही नाम परमेश्वर का साक्षात्कार कहा गया है। और गांधीवाद के सत्य का अर्थ इस लेख के आरम्भ में दिया ही जा चुका है।

इस तरह, जहाँतक मैं सोचता हूँ, गाँधीवाद और समाजवाद में ध्येय या आदर्श का उतना अन्तर नहीं है जितना सन्धिकाल की योजना में या साधनों में अन्तर है। गांधीवाद में अहिंसा शुरू से अखीर तक अनिवार्य है, समाजवाद में हिंसा से भी काम लिया जा सकता है; यही मुख्य अन्तर है। और इसका मूल कारण है पूर्व और पश्चिम की संस्कृति का भेद। समाजवाद जिन स्थितियों और देशों में जन्मा है वहाँ आरम्भ से ही वह अहिंसात्मक नहीं रह सकता था। परन्तु हिन्दुस्तान में उसका आरम्भ अहिंसा से ही शुरू हो रहा है। यह बहुत बड़ा फ़र्क़ है जो हिन्दुस्तानी समाजवाद को गाँधीवाद के साथ-साथ चलने का रास्ता सुगम कर देता है।

: ४ :

गाँधीजी का मार्ग

[आचार्य श्री कृपलानी]

मुझे "गाँधीवाद" पर लिखने को कहा गया था, किन्तु मैंने "सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं के बारे में गाँधीजी का दृष्टिकोण" अथवा संक्षेप में कहें तो "गाँधीजी का मार्ग" शीर्षक पसन्द किया। क्योंकि मैं मानता हूँ कि गाँधीवाद जैसी कोई चीज़ अभी अस्तित्व में नहीं आई है। सभी "वादों" का जन्म उन लोगों की प्रेरणा से नहीं होता, जिनके नाम पर कि वे स्थापित और प्रचलित किये जाते हैं, बल्कि मूल-विचारों पर अनुयायियों द्वारा लादी जाने वाली मर्यादाओं के फलस्वरूप वे अस्तित्व में आते हैं। रचनात्मक प्रतिभा के अभाव में अनुयायी प्रणालियां क़ायम करते और संगठन बनाते हैं। ऐसा करते समय वे मूल सिद्धान्तों को कठोर, स्थिर, एकपक्षी और कट्टर बना देते हैं। उनकी प्रारम्भिक ताज़गी और परिवर्त्तन-शीलता नष्ट हो जाती है, जोकि यौवन की निशानी है। इसके

अलावा, गाँधीजी कोई तत्त्ववेत्ता नहीं हैं। उन्होंने किसी प्रणाली को जन्म नहीं दिया। शुरू से ही वे असली सुधारक रहे हैं। इसी हैसियत से वे पैदा होनेवाली समस्याओं को हल करने की कोशिश करते हैं और उनपर लिखते हैं। वे सर्वोपरि कर्म-प्रधान पुरुष हैं। यह ठीक ही है कि उनको कर्मयोगी कहा जाता है। इसलिए उनके भाषणों, लेखों और कार्यों में सम्भव है हमको कोई तर्कसंगत अथवा तात्त्विक प्रणाली न दिखाई दे। इस बारे में उनकी अवस्था पुराने ज़माने के पैगम्बरों और सुधारकों जैसी है। उनको भी रोज़मर्रा की व्यावहारिक समस्याओं का सामना करना पड़ा था। उन्होंने अपने-आपको कठोर प्रणालियों में न फँसाते हुए उन समस्याओं को हल करने का रास्ता खोज निकाला था। सम्भवतः ख़ास-ख़ास मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त स्थिर कर दिये गये थे और विस्तार की बातें तय करने का काम खास परिस्थितियों और ज़रूरतों के अनुसार हरेक व्यक्ति पर छोड़ दिया गया था। तत्त्ववाद, प्रणाली और कट्टरता को नीचे के लोगों ने जन्म दिया, उनका जीवन-विषयक ज्ञान और दृष्टिकोण संकुचित था।

गाँधीजी ने अपनी सम्मतियों के लिए पूर्णता का दावा कभी नहीं किया। वे अपनी प्रवृत्तियों को सत्य की खोज अथवा सत्य के प्रयोग कहते हैं। ये प्रयोग किये जा रहे हैं। उनको सत्य मान लेना अथवा उनके लिए सत्य का दावा करना किसी भी आदमी के लिए अहंकार का द्योतक होगा। यह सच है कि गाँधीजी के कुछ अनुयायी जो बुद्धिमान की अपेक्षा उत्साही अधिक हैं, गाँधीजी की सम्मतियों के लिए पूर्णता का दावा करते हैं, किन्तु स्वयं गाँधीजी वैसा कोई दावा नहीं करते। वे ग़लतियों को स्वीकार करते हैं। और उनको सुधारने की कोशिश करते हैं, वे सिर्फ़ अपने दो आधारभूत सिद्धान्तों--सत्य और अहिंसा--को एक प्रकार से भूल से परे मानते हैं। शेष बातों के बारे में वे सीखने के लिए उतने ही तैयार रहते हैं जितने कि उस बात को सिखाने के लिए जिसे वे अपने दृष्टिकोण के अनुसार सत्य समझते हैं। जहाँ तक दोनों आधारभूत सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने का ताल्लुक़ है, इस बारे में भी कट्टरता का

परिचय नहीं दिया जाता। वे खुलेतौर पर स्वीकार करते हैं कि अलग-अलग परिस्थितियों और अवस्थाओं में उनका अलग-अलग तरह प्रयोग किया जा सकता है। उनके इस प्रकार के रवैये की वजह से ही बहुधा उनके अनुयायी और दूसरे लोग गड़बड़ी में पड़ जाते हैं और यह कह सकना प्रायः मुश्किल हो जाता है कि वे किन्हीं खास परिस्थितियों में क्या करेंगे। चूँकि उनका व्यक्तित्व उन्नतिशील और विकासमान है, इसलिए उनके चारों ओर कार्यों का आकार-प्रकार अन्तिम तौरपर निश्चित नहीं हो सकता। जिन्होंने उनको नज़दीक से देखा है, उन्होंने इस बात का अनुभव किया है। कार्यों और विचारों के बारे में उनके बदलते हुए रुख से यह बात बहुधा स्पष्ट हो जाती है। भीतरी धारा और मार्गदर्शक भावना तो वही होती है, किन्तु उसका बाहरी रूप भिन्न होता है। यही कारण है कि उनमें युवकों-जैसी ताज़गी है और वे समय से आगे चल सकते हैं। जहाँ उनके कई युवा अनुयायी जड़ बन जाते हैं और अपनी जीवन-शक्ति खो बैठते हैं, वहाँ गाँधीजी हमेशा शक्तिशाली, क्रियाशील और उत्साह से भरे रहते हैं। जहाँ दूसरे लोग नई पीढ़ी की युवकोचित स्वच्छन्दता के प्रति अधीर हो जाते हैं, वहाँ वे हमेशा समझाने की कोशिश करते हैं, धीरज से काम लेते हैं और नये प्रस्तावों पर खुले और अपेक्षाकृत निष्पक्ष दिमाग़ से विचार करते हैं। इसीलिए गाँधीवाद जैसी कोई चीज अभी पैदा नहीं हुई, सिर्फ़ गांधीजी का बताया हुआ मार्ग और दृष्टिकोण है; जो न सख्त है, न नियमित और न अन्तिम। वह ब्योरेवार बातें अन्तिम रूप से अथवा हर समय के लिए तय करने की कोशिश नहीं करता, सिर्फ़ एक दिशा सूचित करता है।

हमारे देश की विशेष प्रकार की परिस्थितियों के कारण गाँधीजी सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में आये। अपने कुछ अधिक भाग्यशाली देशवासियों की तरह वे इंग्लैण्ड गये, वकालत की परीक्षा पास की और रुपया कमाने तथा अपना और परिवार का जीवन सुख-सुविधापूर्वक बिताने के लिए धन्धा करने लगे। उनका विवाह हो चुका था। वे अपने धन्धे के

Pukhotra

सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका गये ; परिस्थितियों ने उनको अपना भाग्य वहाँ रहनेवाले अपने देशवासियों के भाग्य के साथ जोड़ देने और उनकी लड़ाइयाँ लड़ने के लिए मजबूर किया। उनमें से अधिकांश दरिद्र और अशिक्षित थे। कुछ लोग मालदार भी थे, किन्तु उनका उद्देश्य धन कमाना था। उनमें सार्वजनिक भावना और राजनैतिक प्रेरणा का अभाव था। एक विदेशी मुल्क में, जहाँ जातिगत पक्षपात और आर्थिक द्वेष का बोलबाला था, सभी को मार्ग-प्रदर्शन और नेतृत्व की ज़रूरत थी। उनको कई तरह की सामाजिक और राजनैतिक बाधायें सहन करनी पड़ती थीं और वे अनेक अपमानकारी प्रतिबन्धों के शिकार थे। गाँधीजी को उस मुल्क में बस जानेवाले अपने देशवासियों के छिनते हुए अधिकारों की रक्षार्थ लड़ाई में कूदना पड़ा। एक बार उसमें कूद पड़ने के बाद उन्होंने सचाई, योग्यता और जोश के साथ अपनी सारी शक्ति उसमें लगादी। उन्होंने अपना सर्वस्व उस लड़ाई में लगा दिया और किसी भी जोखिम की परवा नहीं की। उस संघर्ष में उन्होंने सामूहिक शिकायतों को दूर करवाने के लिए नये युद्धकौशल का विकास किया और सत्याग्रह के मोटे सिद्धान्तों का पता लगाया। हमेशा की तरह, पहले सिद्धान्त पर अमल किया गया और नाम तथा सैद्धान्तिक प्रणाली का जन्म बाद में हुआ। इस लड़ाई में गाँधीजी को मालूम हुआ कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत और कौटुम्बिक मामलों में ही उपयोगी नहीं हैं, बल्कि समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्थिर करने के लिए भी वे अच्छे और योग्य साधन हैं। मानव इतिहास में ये सिद्धान्त कोई नये नहीं हैं। पुराने ज़माने के कई पैग़म्बरों ने उनपर अमल किया है और उनका प्रचार किया है। किन्तु राजनैतिक सम्बन्धों और झगड़ों पर उनको लागू करने का अभीतक कोई व्यापक प्रयत्न नहीं किया गया था। गाँधीजी को ही एक बड़े पैमाने पर इस बात को साबित करने का श्रेय है कि जो नैतिक और सज्जनोचित आचरण व्यक्तिगत सम्बन्धों के लिए उपयोगी हैं, वे अन्तर-सामुदायिक सम्बन्धों के लिए भी उपयोगी और कारगर हैं। उन्होंने यह भी सिद्ध किया

कि सत्य और अहिंसा द्वारा बाहरी तौर पर इस प्रकार प्रभावशाली ढंग से लड़ाई संगटित की जा सकती है कि जिसका विरोध करना मुश्किल हो जाय। उन्होंने मालूम किया कि अच्छे उद्देश्य के लिए लड़नेवाला चाहे तो बिना हिंसा का सहारा लिये अपनी शिकायतें दूर करवा सकता है, और यह कि अन्याय और अत्याचार के मुक़ाबिले में परम्परागत हिंसात्मक हथियारों की अपेक्षा सत्य और अहिंसा कहीं अच्छे और अधिक कारगर हथियार हैं।

गाँधीजी ने यह साबित करने के लिए कि सभी सफल कार्यों के मूल में सत्य और अहिंसा है, अन्य बातों के साथ एक सीधी कसौटी का प्रयोग किया। जहाँ सत्य की सफलता के लिए असत्य और हिंसा के सहयोग और समर्थन की ज़रूरत नहीं होती, वहाँ असत्य और हिंसा की सफलता के लिए हमेशा सत्य की ज़रूरत होती है। क्योंकि जीवन में हरेक कार्य की, चाहे वह कितना ही स्वार्थमय और असामाजिक क्यों न हो, जड़ में यह बात होना ज़रूरी है कि जो लोग उसमें पड़े हुए हों वे एक-दूसरे के प्रति सच्चे रहें। उदाहरण के लिए व्यापार ऐसा क्षेत्र है जिसमें अन्य स्थानों की अपेक्षा स्वार्थपरता और लालच का सम्भवतः ज्यादा बोलबाला होता है। किन्तु व्यापार में भी कोई व्यवहार अथवा धोखा अधिक समय तक नहीं चल सकता, अगर व्यापारी एक-दूसरे के प्रति सच्चे न रहें और उनका ज़बानी कथन लिखित इक़रारनामे जितना ही महत्व न रखता हो। चोर और हत्यारों को एक-दूसरे के प्रति सच्चा रहना पड़ता है। कई बार उनको व्यक्तिगत लाभ का बलिदान करके पारस्परिक वफ़ादारी की रक्षा करनी पड़ती है। कोई भी काम हो, उसमें आधारभूत सिद्धान्त के तौर पर किसी-न-किसी रूप में सत्य का सहारा लेना ही पड़ेगा, चाहे वह सत्य कितना ही मर्यादित क्यों न हो। यही बात अहिंसा के बारे में है। कोई भी व्यापक और संगठित हिंसा सम्भव नहीं हो सकती, अगर उसमें लगे हुए लोग अपने दल के भीतर अहिंसा के नियमों का पालन न करें, इस मूल सिद्धान्त के बिना वे शत्रु के साथ सम्भवतः

अपनी लड़ाई जारी नहीं रख सकते । यदि कोई सेना केवल अहिंसा में विश्वास रखती हो तो शत्रु के खिलाफ उस हिंसा का उपयोग होने के पहले वह अपने-आपको ही खत्म कर लेगी।

सत्य और अहिंसा को सभी संगठित जीवन के आधारभूत सिद्धान्त मानकर गाँधीजी उनका राजनैतिक क्षेत्र में उपयोग करते हैं, जहाँ अभी-तक परिणामों को देखते हुए असत्य और हिंसा को ही हमेशा श्रेष्ठतर समझा गया है। किन्तु गाँधीजी परिणामों का पैदा होना उच्चतर शक्तियों के हाथ में छोड़कर केवल कोरे सिद्धान्तों के अचूकपन पर ही निर्भर नहीं रहते हैं। यद्यपि वे चाहते हैं कि विरोधी का हृदय-परिवर्तन हो, किन्तु वे केवल इसी बात में विश्वास नहीं करते । वे सबसे अधिक उन लोगों को संगठित और मज़बूत बनाने की कोशिश करते हैं, जो कि अन्याय और अत्याचार से पीड़ित होते हैं। वे ठीक तौर पर संगठित हो सकें, इसके लिए गाँधीजी चाहते हैं कि वे सब अन्यायों से अलग हो जायँ, सब मत-भेदों को दूर कर दें, निर्भय हो जायँ और छोटे-मोटे स्वार्थों को तिलाञ्जलि दे दें। इस प्रकार अपने-आपको मज़बूत और संगठित करने के बाद, गाँधीजी चाहते हैं कि वे अन्याय और अत्याचार को जो सहायता देने आये हैं, उसे वापस ले लें। संक्षेप में, वे चाहते हैं कि लोग बुराई की ताक़तों के साथ असहयोग करें।

भूतकाल में कैसी भी स्थिति रही हो, आज की दुनिया में अत्याचार तभी सम्भव होता है जब कि अत्याचार-पीड़ित इच्छा-पूर्वक या अनिच्छा से, जान में या अनजान में, खुशी से ज़बरदस्ती अत्याचारियों को सहयोग देते हैं। यदि अत्याचार-पीड़ित सब प्रकार से सहयोग देना बन्द करदें और इस इन्कारी के परिणामों को भुगतने को तैयार हों, तो अन्याय और अत्याचार लम्बे अर्से तक जारी नहीं रह सकते । औद्योगिक झगड़ों में इसका परिचय मिलता है। जब कभी श्रमिकों ने सफलतापूर्वक अपना सहयोग वापस ले लिया है, तभी पूँजीपतियों ने हमेशा हार मानी है। अलग-अलग औद्योगिक झगड़ों के परिणामों को देखते हुए श्रमिक अपनी

शिकायतों को दूर करवाने के लिए और राजनैतिक अथवा क्रान्तिकारी उद्देश्यों के लिए आज आम हड़तालों की बातें करने लगे हैं। अब बाह्यतः हड़ताल असहयोग—सत्याग्रह के अतिरिक्त और क्या है ? औद्योगिक झगड़े में काम करने वाली आन्तरिक भावना गाँधीजी द्वारा कल्पित सत्याग्रह की भावना से भिन्न है, हालाँकि यह भिन्नता कोई ज़रूरी नहीं है, किन्तु सहयोग वापस ले लेने का तरीक़ा दोनों अवस्थाओं में समान है। यदि औद्योगिक झगड़ों में सहयोग से दृश्य परिणाम निकल सकते हैं, तो सत्याग्रह के बारे में शंकाशीलता क्यों होनी चाहिए ? सत्याग्रह हड़ताल तो है ही, उसमें कुछ और विशेषता भी है। वह विशेषता लड़ाई लड़नेवालों में अनुशासन और आत्मविश्वास की उच्चतर भावना जाग्रत करती है और विरोधी की इस प्रकार की भावना को कुण्ठित बनाती है। तटस्थ रहनेवालों में उसके कारण अधिक सहानुभूति पैदा होती है। सहयोग वापस ले लेने के बाहरी साधनों को अधिक मनोवैज्ञानिक और सूक्ष्म प्रभावों द्वारा मदद मिलती है और वे मज़बूत बनते हैं। सत्याग्रही अपेक्षाकृत अच्छा असहयोगी अथवा हड़ताली होता है। उसका निर्णय आवेश, क्रोध और घृणा के द्वारा आच्छादित नहीं होता। वह अपने विरोधी को निःशस्त्र बना देता है। वह अधिक सहानुभूति प्राप्त करता है। वह इस विश्वास के सहारे निश्चिन्त रहता है कि स्वेच्छापूर्वक कष्ट-सहन से हमेशा व्यक्ति की प्रगति होती है। किन्तु थोड़ी देर के लिए उसके पक्ष में काम करनेवाले सब नैतिक और मनोवैज्ञानिक कारणों और शक्तियों को एक ओर रख दिया जाय और हम सहयोग वापस ले लेने की बाहरी बात का ही विचार करें तो भी इस तरीक़े में रहस्यपूर्ण क्या चीज़ है ? यह तरीक़ा औद्योगिक झगड़ों के निपटारे के लिए, पिछले डेढ़ सौ वर्षों से, कम-ज़्यादा सफलता के साथ काम में लाया गया है। उसके अभाव में आज आम हड़तालों और समाजवाद अथवा साम्यवाद की शायद ही चर्चा सुनाई देती। सत्याग्रह उसी दशा में कुछ रहस्यमय और आध्यात्मिक अस्त्र हो सकता है जब उसका मतलब किसी ऐसी चीज़ से हो जो अज्ञात हो,

अज्ञेय हो और अव्यावहारिक हो। आम हड़ताल ऐसी चीज़ है जो व्यावहारिक निश्चित और बुद्धिगम्य है। तब सत्याग्रह बुद्धि से परे की चीज़ क्यों होना चाहिए? मनुष्यों के लिए यह कितनी आसान बात है कि वे वाक्यों, शब्दों और नामों के जाल में फँस जाते हैं और इस प्रकार जहाँ मतभेद न हो वहाँ मतभेद खड़े कर देते हैं। आप गाँधीजी की भाषा में और सत्याग्रह की शब्दावलि में चर्चा कीजिए और एक निश्चित, दृश्य संघर्ष रहस्यपूर्ण, आध्यात्मिक, आदर्शवादी और फलस्वरूप अवास्तविक रूप धारण कर लेगा। इसके विपरीत आम हड़ताल की भाषा में बात कीजिए और एकदम वही चीज़ वैज्ञानिक ही नहीं, ऐतिहासिक आवश्यकता में बदल जायगी।

आधुनिक विचार-धारा सत्याग्रह के मामले में ही मूलतत्त्व को नहीं भुलाती, बल्कि राजनैतिक क्षेत्र में गांधीजी के सत्य के प्रयोग के बारे में यही हाल हो रहा है। आज दुनिया की जो हालत है उसको देखते हुए यह अत्यन्त ज़रूरी समझा जाता है कि अन्तर-सामूहिक और अन्तर-राष्ट्रीय मामलों में सत्य से काम लिया जाय। यदि कूटनीति, जैसी अबतक रही है, वैसी ही आगे भी रहनेवाली हो, तो आज इस बात का भारी खतरा है कि आधुनिक सभ्यता की सारी इमारत टुकड़े-टुकड़े होकर नष्ट हो जाय। डॉ० वुडरो विल्सन और दूसरे अत्यन्त व्यावहारिक राजनीतिज्ञों ने गत महायुद्ध में इस बात को साफ़तौर पर समझ लिया था। अब राजनीति में सत्य इसके अलावा और क्या है कि जिसकी खुली कूटनीति कहकर तारीफ़ की गई है? जब डॉ० विल्सन ने इस सिद्धान्त को दुनिया के राष्ट्रों के सामने रक्खा और जब उन्होंने इस सिद्धान्त के आधार पर राष्ट्रसंघ बनाने की सलाह दी तो किसी ने भी उनको रहस्यवादी, अध्यात्मवादी या अव्यावहारिक राजनीतिज्ञ नहीं समझा। जब रूस, समाजवाद तथा साम्यवाद खुली कूटनीति का ज़िक्र करते हैं तब आधुनिक मस्तिष्क में कोई गोलमाल पैदा नहीं होता। क्या इसकी यही वजह है कि वह जो कुछ कहते हैं वैसा करना नहीं चाहते? किन्तु जब गांधीजी राजनैतिक मामलों

में सत्य की चर्चा करते हैं तो सभी ज्ञानवान और बुद्धिमान भयत्रस्त होकर अपने हाथ ऊँचे उठा देते हैं और चिल्लाकर कहते हैं—मानव-स्वभाव जैसा भी है और राजनीति जैसी है और हमेशा से रही है, उसको देखते हुए यह सम्भव नहीं हो सकता। हमेशा की भांति कट्टरता शब्दों के लिए लड़ने लगती है। धर्म के मामले में हमको इसका उदाहरण दिखाई देता है। यदि ईसाई यह कहता है कि दैवीआत्मा फ़ाख़्ता की शक़्ल में अवतरित हुई तो यह बुद्धिसंगत समझा जाता है। किन्तु यदि हिन्दू यह कहता है कि मनुष्य के उच्चतर स्वरूप में उसने अवतार लिया है, तो इसको पूर्वी अन्धविश्वास कह दिया जाता है। यदि हिन्दू मूर्त्ति की पूजा करता है तो वह अन्धविश्वास के अलावा कुछ नहीं, किन्तु यदि कोई किताब या धर्मग्रन्थ सैंकड़ों तह में लिपटी हुई हो और उसे छूने या खोलने के समय हरबार उसे चूमा जाय तो यह तर्कयुक्त बात हो जाती है। यदि कोई खुली कूटनीति की बात करे तो वह व्यावहारिक राजनीतिज्ञ हो गया, किन्तु अगर कोई राजनीति में सत्य का ज़िक्र करे तो वह एकदम रहस्यवादी, सन्त और अव्यावहारिक राजनीतिज्ञ बन जायगा। आप आम-हड़तालों की भाषा में बात कीजिए, आप वैज्ञानिक कहे जायंगे; किन्तु आप सत्याग्रह का नाम लीजिए, और आप एकदम अवैज्ञानिक और प्रतिगामी बन जायंगे।

हां, तो गांधीजी ने लड़ाई का अपना तरीक़ा और उसकी व्यूह-रचना को दक्षिण अफ्रीका में स्थापित और विकसित किया। उसका उन्होंने वहां इस तरह उपयोग किया कि जिससे कुछ नतीजा भी निकला। उन्होंने सत्याग्रह के उसी हथियार का यहां भी कई मौक़ों पर यानी चम्पारन में और असहयोग की गत तीन लड़ाइयों में उपयोग किया है। इन सभी उदाहरणों में, जब वे अपने अथवा राष्ट्र के उद्देश्य को सिद्ध न कर सके तब भी, उन्हें काफ़ी सफलता मिली है। सशस्त्र विद्रोह में भी पहले ही धावे में अथवा एक ही बार में सफलता नहीं मिल जाती। जब किसी उद्देश्य की रक्षार्थ लम्बा युद्ध होता है तो उसमें कई लड़ाइयां लड़ी जाती

हैं, छुटपुट हमले होते हैं और घेरे डाले जाते हैं, विफलतायें और सफलतायें मिलती हैं। यदि कोई ताक़त मामूली मुठभेड़ों में सफल होती है तो उसे अपने-आपको सफल समझना चाहिए और वह सकारण आशा रख सकती है कि आगे चलकर वह पूरी विजय प्राप्त करेगी और अपने उद्देश्य को हासिल कर सकेगी। यदि मामूली भिड़न्त में हार भी हो जाय तो भी यदि सेना बिना किसी रुकावट के क़दम आगे बढ़ाती रहे और उसकी अनुशासन और आत्मविश्वास की भावना ज्यों-की-त्यों क़ायम रहे, उसकी मुक़ाबिला करने की शक्ति बढ़े और वह अपनी सफलता का क्रमशः अच्छे-से-अच्छा हिसाब देती रहे, तो चाहे उद्देश्य की प्राप्ति न हो तो भी जो तरीक़ा काम में लाया गया हो वह अच्छा समझा जाना चाहिए। अब शायद ही कोई इससे इन्कार करेगा कि गांधीजी की अधीनता में राष्ट्र ने जो भी लड़ाई लड़ी है, उसमें उसने आगे प्रगति की है और उसकी मुक़ाबिले की ताक़त बढ़ी है। पक्षपात के वशीभूत होकर ही यह कहा जा सकता है कि इन सत्याग्रह युद्धों के फलस्वरूप राष्ट्र ने ताक़त, बलिदान, संगठन, निर्भयता और अनुशासन की दृष्टि से प्रगति नहीं की है। प्रत्येक संघर्ष में दमन की मात्रा बढ़ी, और फलतः ज्यादा मुसीबतों और कष्टों का सामना करना पड़ा। किन्तु हरबार लोगों ने अधिकाधिक हिस्सा लिया और मुक़ाबिला कड़ा-से-कड़ा हुआ। सन् १९३० में राष्ट्र ने १९-२०-२१ की अपेक्षा अपना अच्छा हिसाब पेश किया। सन् १९३२-३३ में हालत उससे भी अच्छी रही। लड़ाई का बाहरी नतीजा उतना अनुकूल नहीं आया जितना कि सन् १९३० में आया था, किन्तु राष्ट्र ने ज्यादा लम्बी लड़ाई लड़ी और ज्यादा कड़े आघात का मुक़ाबिला किया। दमन ज्यादा कठोर और व्यापक हुआ और यद्यपि राष्ट्र को शत्रु के पशुबल के आगे थककर अपनी लड़ाई स्थगित करनी पड़ी, किन्तु उसकी भीतरी ताक़त सन् १९३० की अपेक्षा कहीं ज्यादा थी। इसका परिचय धारासभा के चुनाव में राष्ट्र की ठोस विजय से मिला। राष्ट्र उस समय सत्याग्रह पर डटे रहकर कष्टसहन को जारी रखने के लिए तैयार न था, किन्तु उसका दिल दुरुस्त

था और उसकी फ़ौजी भावना क़ायम थी। इस प्रकार तीनों लड़ाइयों का तात्कालिक परिणाम कुछ भी निकला हो, पहले हार, फिर सन्धि और फिर हार हुई हो, किन्तु राष्ट्र अपने लक्ष्य की ओर बराबर क़दम बढ़ाये जा रहा है, आखिर अन्तिम लक्ष्य पर एक ही बार तो पहुँचा जा सकता है। यह हो सकता है कि लगातार सफलताओं के बाद भी हम लक्ष्य तक न पहुँच पावें; किन्तु चाहे प्रकटतः सफलता हो या असफलता, जिस किसी कारण से हम ज्यादा ताक़तवर बनते हैं, उसे मूलतः सफलता ही समझना चाहिए, कारण उससे हम अपने लक्ष्य के अधिक नज़दीक ही पहुंचते हैं।

अब हम इसपर विचार करें कि क्या राष्ट्र सत्याग्रह के पहले वाले तरीक़ों द्वारा इतनी प्रगति कर पाता? उन लोगों के अलावा जो हर सम्भव परिस्थितियों में वैध उपायों के पक्षपाती हैं, प्रत्येक निष्पक्ष व्यक्ति यह स्वीकार करेगा कि गांधीजी के आने के पहले कांग्रेस की राजनीति में वैध आन्दोलन का अर्थात् अर्जी देने, प्रार्थना करने और विरोध करने का जो तरीका प्रचलित था, उसमें सत्याग्रह का तरीक़ा निश्चित रूप से अच्छा तरीक़ा है। किन्तु आलोचक यह कह सकता है कि यद्यपि पुराने से यह अच्छा तरीक़ा है और उसके द्वारा राष्ट्र कुछ आगे भी बढ़ा है, किन्तु उसका कार्य अब ख़त्म हो चुका; उसका उद्देश्य पूरा होगया। अब हमारे लिए उसका कोई उपयोग नहीं रहा। यदि बात ऐसी ही हो तो यह आलोचक का काम है कि वह अधिक अच्छा और ज्यादा असरकारक तरीक़ा सुझावे। क्या किसी भी आलोचक ने अभीतक हमारे सामने संगठित प्रतिरोध का कोई नया तरीका पेश किया है? इसके विपरीत यह प्रकट है कि सभी विचारशील लोग, यहाँतक कि कथित प्रगतिशील दलों के लोग भी, मानते हैं कि जिन परिस्थितियों में आज संसार और ख़ासकर हिन्दुस्तान गुज़र रहा है, उनको देखते हुए लड़ाई का तरीक़ा अहिंसात्मक ही हो सकता है। युद्ध और संहार के वर्तमान हथियारों पर राज्यों और सरकारों का एकाधिपत्य होने के कारण बन्दूक और पिस्तौल, लाठी अथवा पुराने ज़माने के तीर-कमान से अच्छे साबित न होंगे। हवाई और रसा-

यनिक युद्ध के ज़माने में, जब कि लड़ाई के सब साधन सरकारों के हाथ में हैं, सशस्त्र लोग भी हिंसात्मक युद्ध में राज्यों के मुक़ाबिले सफल होने की आशा नहीं कर सकते। फिर हिन्दुस्तान जैसा निःशस्त्र राष्ट्र क्योंकर विजयी हो सकता है ? इसके अलावा सैनिक अर्थ में खुलेतौर पर सङ्गठन करना सम्भव नहीं हो सकता। हम अहिंसात्मक उपायों द्वारा ही अपना सङ्गठन कर सकते हैं। और आख़िर हिंसात्मक लड़ाई में भी सङ्गठन, अनुशासन, एकता, बहादुरी और त्याग जैसे नैतिक गुणों का ही सबसे ज्यादा महत्व होता है। सत्याग्रह इन गुणों का विशिष्ट रूप में विकास करता है। अन्तिम विजय किसी उपाय से हो, हिंसा से हो या अहिंसा से, गाँधीजी के नेतृत्व में राष्ट्र जिन गुणों को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है, वे आचरण में लाने और प्राप्त करने योग्य हैं। उनपर व्यापक अमल शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा किया जा सकता है। यह बिल्कुल सम्भव है कि एक छोटेसे गुप्त-क्रान्तिकारी दल में ये सब नैतिक गुण हों। किन्तु सारा राष्ट्र अथवा उसका विस्तृत अंग गुप्त तरीक़ों से इन गुणों को नहीं पा सकता। इसलिए अन्तिम हिंसात्मक संघर्ष के लिए भी वे गुण जिनका सत्याग्रह ने भारतीयों के चरित्र में विकास किया है, उपयोगी सबित होंगे; क्योंकि सभी लड़ाइयों के लिए, चाहे वे हिंसात्मक हों या अहिंसात्मक, वे आधारस्वरूप होते हैं। अतः यदि हमेशा के लिए नहीं तो, कम-से-कम कुछ वर्षों के लिए हमारे लिए सत्याग्रह अथवा हड़ताल का तरीक़ा ही शेष रह जाता है। अमली सुधारक के लिए यह न तो सम्भव है और न वाञ्छनीय कि वह अति दूर के भविष्य में झाँकने की कोशिश करे। वह सिर्फ़ वर्तमान का ही ख़याल करेगा तो ग़लती करेगा। और यदि वह अति सुदूर भविष्य की कल्पना करके सोचेगा तो भी वह ग़लती करेगा। उसको दो अतिरेकों के बीच एक व्यावहारिक रास्ता ढूँढ़ लेना चाहिए। स्वराज्य के लिए हमारी सत्याग्रह की अहिंसात्मक लड़ाई ही वह बीच का रास्ता है। इसलिए राजनैतिक सत्ता हस्तगत करने के लिए जहाँतक लड़ाई के किसी क्रान्तिकारी कार्यक्रम का सवाल है, अभीतक किसी भी दल ने गाँधी-

जी के सत्याग्रही तरीक़े के बजाय कोई दूसरा योग्य उपाय अप्रत्यक्षतः भी सूचित नहीं किया है।

किसी क्रान्तिकारी लड़ाई में प्रत्यक्ष संघर्ष का उतना ही महत्व है जितना कि उस समय का, जब संघर्ष सम्भव नहीं होता, जब राजनैतिक दमन अथवा थकावट के कारण राष्ट्र प्रत्यक्ष संघर्ष की जोखिम और तकलीफें बरदाश्त करने को तैयार नहीं होता। ऐसे समयों के लिए राष्ट्र के सामने कुछ रचनात्मक और उपयोगी काम होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो सैनिक-दल असङ्गठित हो जायँगे। सत्याग्रह के सैनिकों कोसमय-समय पर अपने कैम्पों में विश्राम करना पड़ता है। वहाँ उनके सामने ऐसे काम होने चाहिएँ जो उनको दुरुस्त और सुव्यवस्थित रख सकें। तुलनात्मक शान्ति के समय का उपयोग सङ्गठन को मज़बूत बनाने के लिए किया जाना चाहिए। यदि इस बात की उपेक्षा की गई तो अगली लड़ाई के समय राष्ट्र असङ्गठित और बदहवास हो जायगा। गाँधीजी ने राजनैतिक शिथिलता और शान्ति के ऐसे समयों के लिए रचनात्मक कार्यक्रम का विकास किया है। खादी, ग्राम-उद्योग, ग्राम सेवा, राष्ट्रीय शिक्षा, हरिजन-कार्य, हिन्दुस्तानी-प्रचार आदि कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनको उन्होंने सङ्गठित किया है और जिनको चलाने के लिए उन्होंने संस्थायें बना दी हैं। ये प्रवृत्तियाँ स्वयमेव अच्छी हैं और कार्यकर्त्ताओं की सेना को काम में लगाये रखती हैं। राष्ट्र भी इन प्रवृत्तियों में हिस्सा लेकर और सहायता देकर सार्वजनिक कार्य और ज़िम्मेदारी की शिक्षा प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, जब सविनय अवज्ञा स्थगित होती है, खास प्रश्नों पर सरकार के साथ स्थानीय लड़ाइयाँ भी जारी रहती हैं। बारडोली की ऐसी ही लड़ाई थी।

इन रचनात्मक और आंशिक प्रवृत्तियों में उन लोगों को भी खींच लिया जाता है जो या तो सीधी राजनैतिक लड़ाई में विश्वास नहीं करते या राजनैतिक काम की अपेक्षा सामाजिक काम में ज्यादा दिलचस्पी रखते हैं। गाँधीजी और उनके साथी कार्यकर्ता इन प्रवृत्तियों को सामा-

जिक और राजनैतिक दोनों दृष्टिकोणों से देखते हैं। इन कामों में लगे हुए होने पर भी वे इस बात को कभी नहीं भूलते कि वे मुख्यतः स्वतंत्रता की लड़ाई के सैनिक हैं। इस लिए इन प्रवृत्तियों को केवल संकुचित समाजसुधार के अथवा बुढ़िया के या प्रतिगामी काम कहना उनकी व्यर्थ ही निन्दा करना है। यह समस्याओं को उलझा देना है। यदि मोटे तौर पर और सहानुभूति-रहित दृष्टि से देखा जाय तो जो काम फ़ौजी स्वरूप के न हों वे सभी सुधारक काम प्रतीत होंगे, क्रान्तिकारी नहीं। किन्तु यदि लक्ष्य और उद्देश्य को न भूला जाय तो वही काम सुधारक और क्रान्तिकारी हो सकते हैं —सुधारक तात्कालिक परिणामों की दृष्टि से और क्रांतिकारी भावी लड़ाई पर पड़नेवाले उनके अन्तिम असर की दृष्टि से। जब सेना लड़ाई में नहीं पड़ी हुई होती है और बैरकों में रहती है, उस समय वह बहुत से ऐसे काम करती है जिनके बारे में अपठित आदमी यह समझ सकता है कि उनका वास्तविक लड़ाई के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सैनिक खाइयाँ खोदते हैं जो पुनः भर दी जाती हैं; वे लम्बे कूच करते हैं जो किसी लक्ष्य पर नहीं पहुँचते; वे निशाने मारते हैं, किन्तु उनकी गोलियों से कोई मरता नहीं। वे नक़ली लड़ाइयाँ सङ्गठित करते हैं। ये सब काम यदि इसलिए बन्द कर दिये जायँ कि उनका वास्तविक लड़ाई के साथ कोई ख़ास ताल्लुक़ नहीं दिखाई देता तो सेना का सङ्गठन टूट जायगा और जब प्रत्यक्ष लड़ाई का समय आयगा तो वह बेकार साबित होगी। क्रान्तिकारी दलों के भी रोज़मर्रा के सुधारक कार्यक्रम होते हैं। इन कार्यक्रमों के आधार पर ही उनके बारे में फ़ैसला नहीं किया जाना चाहिए। यदि ऐसा किया जायगा तो वह सही फ़ैसला न होगा। शहर में रहने वाले मज़दूरों को सङ्गठित करना होगा। यह कैसे होगा? श्रमिक संघों द्वारा ही यह हो सकता है। अब कोई भी श्रमिक संघ, चाहे उसका उद्देश्य कितना ही क्रान्तिकारी क्यों न हो, विशुद्ध क्रान्तिकारी आधार पर संगठित नहीं किया जा सकता। श्रमिकों के रोज़मर्रा के अभाव-अभियोग ही वह आधार हो सकता है। इन अभाव-अभियोगों का क्रान्तिकारी उद्देश्य के साथ कोई

ताल्लुक़ नहीं होता। एक अर्से तक श्रमिक संघ इसी बात की कोशिश करेंगे कि थोड़ा सुधार यहाँ होजाय तो थोड़ा सुधार वहाँ होजाय, वे चाहेंगे कि थोड़ी मज़दूरियां बढ़ जायँ, थोड़े काम के घन्टे कम होजायँ और थोड़ी सामाजिक सुविधाओं में वृद्धि होजाय। कोई भी श्रमिक संघ एक-मात्र और विशुद्ध क्रान्तिकारी आधार पर सङ्गठित नहीं किया जा सकता। किसानों के सङ्गठनों को इसी प्रकार काम करना होगा। रोज़मर्रा के कामों में वे सुधारक रहेंगे, किन्तु उनका उद्देश्य क्रान्तिकारी होगा। सभी सुधारक कामों को क्रान्ति-विरोधी और प्रतिगामी काम कहकर बदनाम करना, क्रान्तिकारी आन्दोलन के विभिन्न पहलुओं को दृष्टि से ओझल करना होगा; क्योंकि क्रान्तिकारी आन्दोलन तो सभी मोर्चों पर चलाना पड़ता है।

मुझे अभी तक कोई ऐसा समूह या दल दिखाई नहीं दिया जिसने गाँधी जी द्वारा प्रस्तावित और काँग्रेस द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम के बजाय अपना कोई कार्यक्रम पेश किया हो। मैंने कुछ उग्र और क्रान्तिकारी कार्यक्रमों की चर्चा सुनी है, किन्तु मैंने उनको व्यवहार में आते कहीं नहीं देखा।

गाँधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम के एक अंग—खादी की उत्पत्ति और बिक्री को ही ले लीजिए। मैंने अभीतक यह सुना नहीं है कि अगाँधी-वादी नमूने का क्रान्तिकारी साधारण ख़रीदार को क्या सलाह देगा। निश्चय ही वह खादी की सिफ़ारिश न करेगा, क्योंकि ऐसा करना प्रतिगामी कार्य होगा। तो क्या वह मिल के कपड़े की सिफ़ारिश करेगा? वह ऐसा नहीं कर सकता। यदि वह करता है तो वह ख़रीदार से उन लोगों की सीधी मदद करने के लिए कहता है जो रोज़मर्रा और प्रतिक्षण मज़दूरों का शोषण करते हैं, और जिनके शोषण और लोभ को रोकने की आवश्यक राजनैतिक सत्ता उसके हाथ में नहीं है। क्या वह विदेशी कपड़े की सिफ़ारिश करेगा? और किसी बात का ख़याल न किया जाय तो भी इस प्रकार की सिफ़ारिश का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तात्कालिक राजनैतिक लड़ाई पर हानिकारक असर पड़ेगा। मैंने अक्सर यह जिक्र सुना है कि फिर भी

वह इस आशा से हिन्दुस्तानी मिलों के कपड़े की सिफ़ारिश करेगा कि जैसे-जैसे औद्योगिक जीवन का विकास होगा, वैसे-वैसे शहरी मज़दूरों की संख्या में वृद्धि होगी, जो क्रान्ति के लिए हमेशा अच्छी सामग्री सिद्ध होती है। यदि वह इस बात की भी गारण्टी कर सके, तो उसकी दलील सुनी जा सकती है। किन्तु वह कुछ भी कहे या करे, वह भारतीय उद्योग का विस्तार और संजीवन नहीं कर सकता। विदेशी सरकार की नीति के कारण भारतीय उद्योग कभी भी एक निश्चित संकुचित सीमा के आगे नहीं बढ़ने दिया जाता। मर्दुमशुमारी की रिपोर्टों से पता चलता है कि भारतीय उद्योग देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ आगे क़दम नहीं बढ़ा सका है और अधिकाधिक लोगों को क्रमशः जीवन-निर्वाह के लिए भूमि का सहारा लेना पड़ा है। सारी जनसंख्या के लिहाज से औद्योगिक जनसंख्या का औसत घटता जा रहा है।

दूसरी दलील यह पेश की जाती है कि भारतीय उद्योग को सहायता देने से हमें वह आधार मिल जाता है जिस पर आगे चलकर अपने औद्योगिक जीवन का निर्माण कर सकते हैं। किन्तु यह दलील अब काम नहीं दे सकती। रूस ने यह दिखा दिया है कि राजनैतिक सत्ता हस्तगत कर लेने के बाद पंच या दस-वर्षीय योजना द्वारा देश को पूरी तरह औद्योगिक बनाया जा सकता है। जब हमारे हाथ में सत्ता होगी तो औद्यो-गिक पुनर्निर्माण की हमारी भावी योजनाओं में आज के दक़ियानूसी और कमज़ोर उद्योग से शायद ही कोई उल्लेखनीय सहायता मिल सकेगी। अतः जिस चीज़ में आज ग़रीबों के लिए निश्चित लाभ है, उसको भविष्य के अनिश्चित लाभ के लिए छोड़ देना बुद्धिमानी का काम न होगा। हम पिछले अनुभव से भी लाभ उठा सकते हैं। बंगभंग के ज़माने का स्वदेशी-आन्दोलन इसलिए विफल हुआ कि राष्ट्रों ने मिलों के एजेण्टों पर विश्वास किया। मिल-एजेण्टों ने कपड़े की क़ीमतें बढ़ादीं और राजनी-तिज्ञों के उद्देश्य को विफल कर दिया। राजनीतिज्ञों ने उद्योगपतियों की सद्भावना और देशभक्ति पर ही भरोसा किया। इसका परिणाम घातक

निकला । यदि हमको स्वदेशी से लाभ उठाना हो और अदेशभक्त और अदूरदर्शी पूँजीवाद के हाथों में अपने-आपको निस्सहाय न छोड़ना हो, तो हमारे पास दूसरे साधन भी होने चाहिएँ । खादी और ग्रामोद्योग आन्दोलनों के रूप में गाँधीजी ने ये साधन हमारे लिए पैदा कर दिये हैं । ये आन्दोलन किसानों को अवकाश के महीनों में काम भी देते हैं । किस अर्थ में ये प्रतिगामी प्रवृत्तियाँ हैं ? कुछ उग्र विचारक कहते हैं कि इन प्रवृत्तियों के कारण ग़रीबों की हालत में जो सुधार होगा, उसकी वजह से उनका क्रान्तिकारी जोश ठण्डा पड़ जायगा । यदि खादी के बारे में यह सही हो तो श्रमिक संघों की हड़तालों और दूसरी प्रवृत्तियों के बारे में भी यही बात कहनी होगी । हड़ताल आम क्रान्तिकारी उद्देश्यों के लिए कभी भी नहीं की जाती, बल्कि एक निश्चित सुधारक उद्देश्य के लिए उसका आश्रय लिया जाता है । उसके द्वारा क्रान्ति के लिए जो शिक्षण मिलता है, उसे तो केवल उप-परिणाम ही कहना चाहिए ।

जहाँतक खादी और ग्रामोद्योगों का ताल्लुक़ है, गाँधीजी इस बात का काफ़ी सबूत दे सकते हैं कि वे खूब जाग्रत हैं । कम-से-कम जीवन-निर्वाह योग्य मज़दूरी निश्चित कर देना और वह भी राजनैतिक सत्ता के बिना, इससे बढ़कर क्रान्तिकारी काम और क्या होगा ? फिर भी गाँधीजी ने अपनी सलाह और पथ-प्रदर्शन में चलनेवाले सब संगठनों में यह क्रान्तिकारी योजना जारी कर दी है । उन्होंने कार्यकर्त्ताओं और संगठनकर्त्ताओं द्वारा पेश किये गये व्यापारिक आँकड़ों के आधार पर मिली हुई विशिष्ट सलाह के विरुद्ध जाकर ऐसा किया है । उन्होंने वास्तविक तथ्यों की उपेक्षा की और अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण और उत्साह का परिचय दिया । उनको चेतावनी दी गई थी कि थोड़ी-बहुत खादी जो बच रही है वह नष्ट हो जायगी, किन्तु उन्होंने स्पष्टतः सही और क्रान्तिकारी सिद्धान्त के लिए अपनी प्यारी योजना के विनाश को भी पसन्द कर लिया । उनका दृष्टिकोण और विश्वास सही साबित हुआ । नये प्रयोगों के कारण खादी को ज्यादा हानि नहीं पहुँची है ।

अब औद्योगिक मज़दूरों की बात लीजिए। उनके विचारों के अनुसार संचालित और प्रेरित एक मज़दूर-संघ है। हिन्दुस्तान में आज अहमदाबाद मिल मज़दूर यूनियन से बढ़कर सुसंगठित और आर्थिक दृष्टि से मज़बूत यूनियन दूसरी नहीं है। किसी भी दूसरी यूनियन की अपेक्षा उसके ज्यादा वास्तविक और चन्दा देनेवाले सदस्य हैं। इसके अलावा शिशुगृहों, बालकों और वयस्कों के लिए रात्रि और दिवस पाठशालाओं, छात्रावासों, हरिजन संस्थाओं, सहयोग भण्डारों आदि के रूप में सबसे अधिक संस्थायें उसके साथ जुड़ी हुई हैं।

गाँधीजी स्वराज्य के लिए आतुर होते हुए भी बड़े पैमाने और स्थायी आधार पर अपनी योजनायें बनाते हैं। जब उन्होंने एक साल में स्वराज्य मिलने की बात कही थी, तब भी उन्होंने दीर्घकालिक कार्य के आधार पर अपनी संस्थाओं का निर्माण और संगठन किया था। राष्ट्रीय शिक्षा, खादी, हिन्दुस्तानी-प्रचार, हरिजन-कार्य एक साल में पूरे नहीं हो सकते। इसलिए जो योजनायें और संस्थायें बनाई गईं, वे कई वर्षों का खयाल करके बनाई गईं। तात्कालिक राजनैतिक उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ, किन्तु संस्थायें संगठन का काम करती रहीं और अपने-आपको उन्नत बनाती रहीं। इस प्रकार उन्होंने क्रान्ति की चिनगारियों को जीवित रक्खा। ये सब अग्रगामी संस्थायें हैं। वे असफल हो सकती हैं; उनको तोड़ा जा सकता है; पहले से नई, अच्छी और बड़ी योजनायें भविष्य में बनाई जा सकती हैं; किन्तु इन संस्थाओं से राष्ट्र को जो लाभ हुआ है, उसने जो प्रगति की है, उसकी अवगणना वही लोग कर सकते हैं जो राष्ट्रीय आन्दोलन का बहुत ही छिछला ज्ञान रखते हैं।

निन्दा या आलोचना करना बहुत आसान होता है। किन्तु जब आलोचक खुद काम करने के लिए और संगठन करने के लिए जुटेंगे तो उन्हें मालूम होगा कि सार्वत्रिक क्रान्ति के अपने व्यापक आदर्श के लिहाज़ से उनकी प्रवृत्तियाँ केवल सुधारक प्रवृत्तियाँ हैं, जिनका सम्बन्ध रोज़मर्रा की उन छोटी बातों से है, जो प्रकटतः उद्देश्य के साथ कोई सम्बन्ध

नहीं रखतीं। क्रान्ति-कारी आन्दोलन के उस स्वयंसेवक के उदाहरण पर विचार कीजिए जिसको दफ्तर में लिफाफों पर टिकट चिपकाने का काम सौंपा गया है। वह अपने इस विनीत साधारण रूखे काम का दल द्वारा कल्पित भावी क्रान्ति के साथ कैसे सम्बन्ध जोड़ेगा? उसको व्यापक दृष्टि-बिन्दु और किसी जीवित श्रद्धा की सहायता लेनी होगी। इस तरह ही वह यह समझ सकता है कि उसका मामूली काम क्रान्ति के लिए आवश्यक काम है। गाँधीजी में वह दूरदृष्टि और आत्मश्रद्धा है जिससे कि वे सभी कामों में निहित इस सिद्धान्त को समझ सकते हैं। एक धार्मिक पुरुष की तरह, जो प्रत्येक आत्मा में परमात्मा के दर्शन करता है, गाँधीजी हरेक छोटे सुधारक काम में, जिसे वे करते हैं या दूसरों को करने की सलाह देते हैं, स्वराज्य-देवता के दर्शन करते हैं। वे चाहे ब्रिटिश सिंह की गर्दन को हिला देनेवाली लड़ाई के मोर्चे पर डटे हों, छोटे से चर्खे को दुरुस्त कर रहे हों अथवा सेगाँव-जैसे छोटेसे गाँव की तंग गलियों में झाड़ू लगा रहे हों, वे यही समझते हैं कि वे क्रांति के लिए कार्य कर रहे हैं; अपने पूर्ण-स्वराज्य के स्वप्न के लिए काम कर रहे हैं जिसमें गरीब अपने घर के खुद मालिक होंगे। चूँकि वे इस आत्मश्रद्धा के साथ काम करते हैं, अतः अपने अनुयायियों और साथी-कार्यकर्ताओं में वही आत्मश्रद्धा जाग्रत कर देते हैं।

इस प्रकार गाँधीजी ने दुहेरा कार्यक्रम बनाकर राष्ट्र के सामने रक्खा है। एक कार्यक्रम तो हलचलपूर्ण और क्रान्तिकारी समयों के लिए है जब कि राजनैतिक जीवन की रफ्तार खूब तेज़ होती है, और दूसरा कार्यक्रम अपेक्षाकृत शान्तिमय समयों के लिए है जबकि राष्ट्रीय जीवन धीमी और साधारण हालत में होता है। किसी व्यक्ति या दल ने इन दोनों अनिवार्यतः एक के बाद एक आनेवाले समयों के लिए इससे अच्छे कार्यक्रम का आविष्कार नहीं किया है। अवश्य ही ये कार्यक्रम स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए बनाये गये हैं। शहरी मज़दूरों की एकतंत्री सत्ता अथवा किसानों और मज़दूरों के प्रजातंत्र की स्थापना के लिए उनका निर्माण नहीं हुआ है। गाँधीजी के कार्यक्रम और उनके स्वराज्य का यही अर्थ है कि हिन्दुस्तान

की आम जनता का हित-साधन हो । गोलमेज़ कान्फ्रेंस में बोलते हुए उन्होंने घोषित किया था कि भारतीय राष्ट्रीय महासभा का ध्येय है; "विदेशी जुए से पूर्ण स्वतन्त्रता हासिल करना (प्रत्येक अर्थ में), ताकि देश के करोड़ों मूक अधिवासी सुखी हो सकें। इसलिए हरेक स्वार्थ को, जो करोड़ों के हितों के विरुद्ध हो, अपना रवैया बदलना होगा और यदि परिवर्तन सम्भव न हो तो खत्म हो जाना पड़ेगा।" यह बिलकुल सम्भव हो सकता है कि आम जनता के हित शहरी मज़दूरों की एकतंत्री सत्ता द्वारा ही सबसे अधिक अच्छी तरह पूरे हो सकें। किन्तु गाँधीजी का अभीतक यह खयाल नहीं है कि इस प्रकार की योजना द्वारा आम जनता का सबसे अधिक हित होगा। इस बीच में जो लोग मजदूरों की सत्ता स्थापित करना चाहते हैं उनका काम है कि वे खुद अपना दुहेरा तरीक़ा खोजें और उसको केवल सिद्धान्त-रूप में ही राष्ट्र के सामने न रक्खें, बल्कि अमली रूप देकर उसकी योग्यता सिद्ध करें। जबतक इस प्रकार के कार्यक्रम सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों रूपों में हमारे सामने न आवें, बल्कि सैद्धान्तिक की अपेक्षा व्यावहारिक रूप में अधिक न आवें, तबतक हमको अपनी जगह पर ही रहने दिया जाय तो ठीक होगा। गाँधीजी ने लोगों से केवल सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तवाद और आदर्शवाद के नाम पर ही अपील नहीं की है, बल्कि उनके साथ उन्होंने अपने कार्यक्रम भी रक्खे हैं। उनका आदर्शवाद संसार की विचारधारा से शताब्दियों आगे रहा हो, किन्तु उन्होंने उस समय की प्रतीक्षा नहीं की जब कि हिन्दुस्तान की आम जनता ने उनके आदर्शवाद को अपना लिया होता। इसके विपरीत उन्होंने अपने आदर्शवाद के अनुसार कल्पित काम राष्ट्र के सामने पेश करके अपने आदर्शवाद की उपयोगिता सिद्ध कर दी। उन्होंने यह ठीक ही सोचा कि किसी भी आदर्शवाद के प्रचार का सबसे उत्तम तरीक़ा यही है कि चाहे कितने ही विनम्र रूप में क्यों न हो, उसपर अमल किया जाय। इस प्रकार की महत्वाकाँक्षा रखनेवाले दूसरे लोगों को भी उनका अनुसरण करना चाहिए, यदि वास्तव में वे अपने विशिष्ट आदर्शवादों के सच्चे पुजारी

हैं : आखिर हमारे लिए गाँधीजी का आदर्श और अमल नया ही था। उनके साथ शामिल होने के लिए हमें भूतकाल से, अपनी विचार करने और काम करने की आदतों से, अपनी कसौटियों से एक बड़ी हद तक नाता तोड़ना पड़ा। यदि कोई व्यक्ति या दल ज्यादा अच्छे और व्यावहारिक कार्यक्रम हमारे सामने रक्खेगा तो यह विश्वास रक्खा जा सकता है कि हम फिर वैसा ही कर सकते हैं। आखिर गाँधीजी ने अपने अनुयायियो के सामने दरिद्रता और कष्ट-सहन का आदर्श रक्खा है। यदि कम कष्ट सहकर और कम त्याग करके लोगों को कुछ निश्चित फल मिल सकता हो तो वे इतने मूर्ख नहीं हैं कि ऐसे मौक़े को यों ही हाथ से निकल जाने दें। उनमें से कुछ अपने धन्धे और आमदनियाँ छोड़ चुके हैं और खादी तथा ग्रामोद्योगों के काम में लगे हुए हैं। इस काम के द्वारा ग़रीबों को सम्भवतः एक-दो आना मिल जाता है और जब वस्तुतः सत्याग्रह की लड़ाई जारी नहीं होती है तो कार्यकर्त्ताओं को काम मिल जाता है। यदि कोई उनको यह बतादे कि इस तरह काम करने से ग़रीबों की जेबों में एक रुपया या इससे अधिक पहुँचने लगेगा और यह भी कि विदेशी साम्राज्यवाद से लड़ने का अमुक तरीक़ा ही अचूक और उत्तम तरीक़ा है तो वे ऐसे लोग नहीं हैं जो इस प्रकार के आकर्षक प्रस्तावों को ठुकरा दें। यदि उन्होंने छोटी बातों के लिए उन वस्तुओं को त्याग दिया जिनको लोग जीवन में महत्वपूर्ण खयाल करते हैं (अपने धंधों और अपनी आमदनियों को) तो ज्यादा अच्छी और श्रेष्ठ बातों के लिए वे इससे कम त्याग न करेंगे। वे गाँधीजी के नये तरीक़ों के योग्य शिष्य सिद्ध हुए हैं—ऐसे तरीक़ों के, जिन पर इतिहास में अभी तक कभी अमल नहीं किया गया और जिनकी पहले कोई मिसाल नहीं मिलती है। यदि अधिक परिचित, सुपरीक्षित, और आसान तरीक़े उनके सामने रक्खे जायँगे तो वे निश्चय ही उनका स्वागत करेंगे। किन्तु साफ़ कहा जाय तो उनको अपना रास्ता स्पष्ट नहीं दिखाई दे रहा है। ज्योंही उनको कोई प्रकाश दीखने लगेगा, वे इन मित्रों के साथ शामिल होजायँगे, जिनसे वे आज

मतभेद रखते हैं। इस बीच में उनको बिना किसी रुकावट के अपनी योजनाओं पर अमल करने देना चाहिए। साथ ही वे भी इस बात के लिए हमेशा तैयार हैं कि दूसरे समूहों को अपने खुद के आदर्शों के अनुसार अपनी योजनाओं पर अमल करने दिया जाय।

किन्तु सवाल यह पैदा होता है, काँग्रेस का संगठन किसके हाथ में रहे? इस बारे में भी गाँधीजी का तरीक़ा हमें रास्ता दिखा सकता है। चम्पारन की लड़ाई में काँग्रेस ने गाँधीजी को मदद देने का प्रस्ताव किया था। किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा कि काँग्रेस एक बड़ी और महत्वपूर्ण संस्था है। वह नये और अपरीक्षित प्रयोग नहीं कर सकती। वह ऐसे प्रश्न पर अपनी बुद्धिमत्ता और धीरता की ख्याति की बाज़ी नहीं लगा सकती जिसमें वह बिना फलितार्थों और परिणामों का ख़याल किये अनजाने उलझ सकती है। गाँधीजी ने सिर्फ़ नैतिक समर्थन चाहा, इससे अधिक कुछ नहीं। उन्होंने चाहा कि काँग्रेस अपने इतिहास और विकास की मान्यता के अनुसार अपने रास्ते पर चलती जाय। सन् १९२० में वे खिलाफत के प्रश्न पर सत्याग्रह कर चुके थे। वे अपने प्रस्ताव लेकर काँग्रेस के पास आये। उन्होंने काँग्रेस से कहा कि खास सवाल को अपने हाथ में लेना सस्था के लिए अच्छा होगा; किन्तु यदि वह लेना पसन्द न करेगी तो मैं अपने रास्ते पर आगे बढ़ना जारी रक्खूँगा। उन्होंने यह नहीं कहा कि जब काँग्रेस मान लेगी तभी उनकी योजनाओं पर अमल किया जा सकेगा। एक बार फिर स्वराज्यपार्टी के ज़माने में बहुमत साथ होते हुए भी वे हट गये और स्वराज्यपार्टी वालों के लिए खुला क्षेत्र छोड़ दिया। इसलिए सभी दलों को अपनी-अपनी योजनायें काँग्रेस के सामने रखना चाहिए, किन्तु यदि वे योजनायें स्वीकृत न हों तो उनपर उनको अपने-आप अमल करना चाहिए और निश्चित परिणामों द्वारा लोगों का विश्वास प्राप्त करके काँग्रेस को हस्तगत कर लेना चाहिए। यह ज़रूरी नहीं है कि इन परिणामों से योजनाओं की सफलता साबित हो जाय, किन्तु वे ऐसे ज़रूर होने चाहिएँ जो संगठन, प्रयत्न और

सफलता के द्योतक हों। वे ऐसे होने चाहिएँ जिससे शंकाशील लोग देख सकें कि कुछ क़दम आगे बढ़ा है। किन्तु यदि विभिन्न दिशाओं में प्रारम्भिक काम करने के बजाय काँग्रेस-संगठन को केवल ऊपर से ही हस्तगत करने की कोशिश की जायगी, तो सफल दल को शीघ्र ही मालूम हो जायगा कि ज्यादा-से-ज्यादा प्राप्त करने की आतुरता में उसने सोने का अण्डा देनेवाली मुर्गी को ही मार डाला है। आख़िर काँग्रेस कोई सरकार नहीं है जिसके संगठन को हस्तगत करने के बाद अपने-आप सारी सत्ता हाथ में आजाती है। काँग्रेस में जो शक्ति है वह हमने ही देश में अपने काम के द्वारा, अपने संगठन के द्वारा और अपने त्याग और बलिदान के द्वारा दी है। इसलिए जल्दबाज़ी करके काँग्रेस-संगठन को हथिया लेने से किसी भी दल का भला न होगा। यह सच है कि काँग्रेस की प्रतिष्ठा महान् है, किन्तु उसका उपयोग वही लोग कर सकते हैं जो काम करें, संगठन करें और कष्ट-सहन और त्याग करने के लिए तैयार हों। और कोई उससे लाभ नहीं उठा सकता।

मैंने पाठकों के सामने गांधीजी का दुहेरा कार्यक्रम अर्थात् एक तो लड़ाई का कार्यक्रम और दूसरा रचनात्मक कार्यक्रम रख दिया है। कांग्रेस के बारे में उनका क्या रुख है और वे उसको किस निगाह से देखते हैं, यह भी मैंने बता दिया है। इन सब बातों को हम मानते हैं। हम इस इन्तज़ार में हैं कि कोई इन तीन उपायों के बजाय अच्छे उपाय पेश करे। जब हमको उन तरीक़ों का पता चल जायगा तो मैं आशा करता हूँ कि गांधीजी के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए हम देश की आज़ादी की लड़ाई में सबसे आगे के मोर्चों पर डटे हुए दिखाई देंगे। (गांधीजी के पद-चिह्नों के अनुसरण की बात मैंने इसलिए कही कि वे हमेशा सीखने के लिए तयार रहते हैं और किन्हीं कट्टर और अपरिवर्तनीय नियमों से बँधे हुए नहीं हैं।) हम आशा करते हैं कि हमने किसी ख़ास प्रणाली अथवा सम्प्रदाय के लिए नहीं बल्कि देश की आज़ादी के उद्देश्य के लिए ही अपने जीवन उत्सर्ग किये हैं।

: ५ :

गाँधीवाद : समाजवाद

[डा० पट्टाभि सीतारामैया]

समय-समय पर नये विचारों के प्रयोगों द्वारा दुनिया के इतिहास का निर्माण हुआ है। हरेक देश का एक प्रधान सुर रहा है जो उसके अब-तक के राष्ट्रीय जीवन की धाराओं की असलियत मालूम करने के लिए कुंजी का काम देता है। हम यह देखते हैं कि एक देश तथा युग विशेष प्रचलित विचार और आदर्श दूसरे देशों और दूसरे युगों में बड़ी तेज़ी के साथ फैले हैं। अन्तर इतना ही रहा कि एक जगह के सभी भले-बुरे संयोगों को दूसरी जगह सामना नहीं करना पड़ा। आज के ज़माने में भी हम देखते हैं कि विभिन्न देशों और महाद्वीपों में रहनेवाले लोगों की भावनाओं और विचारों में किस क़दर विचित्रतापूर्ण और शीघ्रगामी परिवर्तन हो रहे हैं। हमारी आँखों के आगे उदाहरण इतने अधिक और इतने स्पष्ट हैं कि उनको गिनाने अथवा उनकी व्याख्या करने की ज़रूरत नहीं मालूम देती।

पश्चिम में समाजवाद

किन्तु इनमें से हम एक विचार की चर्चा करेंगे, जिसका हमारे उद्देश्य के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। एक ज़माने में समाजवाद नास्तिकता अथवा दिमाग़ी फ़ितूर तक समझा जाता था। उसके आक्रमणों से अपनी सम्मानित और परम्परागत संस्थाओं की रक्षा करने के लिए विभिन्न देशों ने तरह-तरह के उपायों की योजना की। इस प्रकार वे केवल उसके आदर्शों की तीव्रता को कम कर सके, किन्तु उसकी लहर के प्रवाह को हमेशा के लिए नहीं रोका जा सका। एक ओर इंग्लैंड में समाजवाद का विचार एक उदार विचार रहा है, जो समाज और अर्थ-व्यवस्था के पुराने आधार पर हावी होने के बजाय प्रायः खुद उसका शिकार हो गया है। अवश्य ही उसका अंग्रेज़-समाज पर असर पड़ा, किन्तु यह कोई नहीं

कहेगा कि अंग्रेज़ जाति की अर्थ-नीति अथवा उसके राजनैतिक सिद्धान्त सम्पूर्णतः बदल गये हैं। दूसरी ओर रूस में समाजवाद के सिद्धान्तों पर पूरी तरह अमल किया गया है। उसके फलस्वरूप वहाँ के हालात में जो आकस्मिक और ज़बरदस्त परिवर्तन हुआ है, उसके असर ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कर दी जाने के बावजूद दुनिया के कोने-कोने में पहुँच गये हैं।

इस प्रकार, जैसा कि बरट्रन्ड रसल खुद स्वीकार करते हैं, इंग्लैंड में समाजवाद की ओर झुकाव रहा, किन्तु उसे एक निश्चित ध्येय के तौर पर नहीं माना गया। वहाँ खुद मज़दूर-आन्दोलन का राजनैतिक दलबन्दी के आधार के अलावा कोई ख़ास विरोध नहीं हुआ, हालांकि वह समाजवादी दृष्टिकोण रखने का दावा करता है। निस्सन्देह समाजवाद ने शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ाई है और उन लोगों के लिए बौद्धिक और राजनैतिक सुविधायें सुलभ कर दी हैं जो अबतक दिल और दिमाग़ से शून्य केवल हाथ से श्रम करनेवाले मज़दूर समझे जाते थे। इसके अलावा उसने कुछ रचनात्मक प्रसन्नता का भी संचार किया है, किन्तु इसके बाद उसकी गति रुक गई। वह न तो बेकारों को ज्यादा आशा का संदेश दे सका और न बाकारों को ज्यादा सुख पहुँचा सका। पश्चिम में राजकीय समाजवाद की ओर झुकाव बढ़ रहा है, किन्तु इस दशा में भी सिर्फ़ मालिक ही बदलते हैं। मज़दूर तो फिर भी गुलामी ही करता है। यह ठीक ही कहा गया है कि आत्म-प्रेरणा की मात्रा में वृद्धि होने के बजाय उससे केवल पारस्परिक हस्तक्षेप बढ़ता है। हर हालत में समाजवाद की सभी समयसाधक योजनाओं में श्रमिक को अपने काम में उस गौरव और प्रसन्नता का अनुभव नहीं होता जिसकी वह आकांक्षा रखता है। सहयोग-आन्दोलन, श्रमिक संघवाद अथवा राजकीय समाजवाद आदि सभी के बारे में यही बात कही जा सकती है। ये विभिन्न समाजवाद योजनायें हैं जो पश्चिम में पूँजीवाद की बुराइयों का मुक़ाबिला करने के लिए खड़ी की गई हैं।

अब यह भली प्रकार से और आमतौर पर मालूम हो चुका है कि

पश्चिम में परिस्थितियों का जो समूह लोगों के सामाजिक और आर्थिक जीवन का नियंत्रण करता है, उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप समाजवाद का जन्म हुआ है। सम्पत्ति और उत्तराधिकार विषयक क़ानूनों ने, जो परिवार में सबसे बड़े लड़के का ही अधिकार स्वीकार करते हैं, नौजवानों का एक ऐसा वर्ग पैदा कर दिया है जिसमें परिवारों के सबसे बड़े लड़के शामिल हैं। वे ऐशो-आराम करते हैं, पूँजी के उपयोग द्वारा अपनी सम्पत्ति बढ़ाते हैं और शोषण तथा साम्राज्य-निर्माण करने के लिए कटिबद्ध रहते हैं। उनके पास खूब सारी दौलत होती है और महत्वाकाक्षा की भी कमी नहीं होती। इसके विपरीत छुटभय्यों को समाज में खुला छोड़ दिया जाता है। ये लोग अपने धनी और महत्वाकांक्षी बड़भय्यों की शोषण-योजनाओं को कार्यरूप देने के लिए कारगर एजेंट सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार कुलीन लोगों का एक छोटा वर्ग और आम लोगों का एक बड़ा वर्ग अस्तित्व में आया है। दूसरे शब्दों में ये दोनों वर्ग पूँजीवादी और उद्योगवादी प्रणाली के एक ही चित्र के दो पहलू हैं। वास्तव में ये देश की समाज-व्यवस्था के प्रत्यक्ष परिणाम हैं।

वर्ग-विभेदों का विस्तार

आर्थिक क्षेत्र में घटनाक्रम और भी स्पष्ट है। वाष्प इंजिन के आविष्कार और चीज़ों के उत्पादन और निर्माण में बिजली के उपयोग के कारण पश्चिमी राष्ट्र व्यापार पर एकाधिकार जमाने, बाज़ार तलाश करने, राष्ट्रों को गुलाम बनाने और व्यापार तथा हथियारों की श्रेष्ठता के सहारे साम्राज्यवादी प्रणाली की रचना करने में सब से आगे बढ़ गये हैं। शांति और युद्ध दोनों अवस्थाओं में ठोस और व्यापक संगठन द्वारा दुनिया का व्यापार और प्रदेश हस्तगत कर लिये हैं। यह संगठन कभी उद्योगवाद और कभी सैनिकवाद के रूप में प्रकट हुआ है। इसके फलस्वरूप उस प्रणाली का जन्म हुआ है जिसमें धनी को और धनी बनाया जाता है और ग़रीब के पास जो थोड़ा-बहुत बच रहा हो वह भी छीन लिया जाता है। इसीलिए एक ओर लन्दन के पश्चिमी कोने में गगनचुम्बी महल खड़े

हो रहे हैं और दूसरी ओर पूर्वी कोने में दुर्गन्धित घर हैं, जिनमें दरिद्रता का भीषण नृत्य होता है। बेकारी बढ़ गई है, क्योंकि यह आशा नहीं की जा सकती कि विदेशी निर्यात के लिए उत्पत्ति करने के सिद्धान्त का हमेशा समर्थन होता रहेगा। गत महायुद्ध ने पूर्वकालीन अवस्थाओं को उलट दिया है और पश्चिमी राष्ट्रों में विद्रोह की लहर उठ खड़ी हुई है।

इंग्लैण्ड ने परम्परागत दूरदृष्टि से काम लेकर मज़दूरों, व्यवसाय-संघों और समाजवाद की लहर को रोकने के लिए कई दीवारें खड़ी की हैं। दरअसल मज़दूर-आन्दोलन का पिछले पचास-वर्षों का इतिहास यह बताता है कि इंग्लैण्ड ने, जो योरुप का सबसे अधिक उद्योगवादी राष्ट्र है और दुनिया के राष्ट्रों में सबसे ज्यादा कट्टर है, समयानुकूल रियायतें देकर किस प्रकार समाजवाद का मुक़ाबिला किया है। उदाहरणार्थ उसने बालिग़मताधिकार जारी किया, व्यवसाय-संघों को स्वीकार किया, हड़तालियों को रियायतें दीं, बुढ़ापे की पेंशनों, प्रसूतिकालीन सुविधाओं और बीमारी के बीमों की व्यवस्था की, भारी उत्तराधिकार-कर, अतिरिक्त आय-कर और पूँजी पर कर लगाये और बेकारों को बेकार वृत्तियाँ दीं। जहाँतक आम लोगों का सम्बन्ध है, इन रियायतों की अब आख़िरी सीमा पहुँच चुकी है। इसके विपरीत उच्च श्रेणी के लोग अर्थात् नेता, जो समाजवादी सूत्रों के हामी रहे, कट्टरवाद की गोद में छिपकर ख़त्म हो चुके हैं। इग्लैण्ड आज एक बड़ी क्रांति के मुहाने पर खड़ा है। हम आज यह नहीं कह सकते कि उसके फलस्वरूप फासिज्म की स्थापना होगी या समाजवाद की। किन्तु परिस्थिति पर सावधानी के साथ निगाह रक्खी जाने की ज़रूरत है।

योरुप की तानाशाही हुकूमतें

इंग्लैण्ड में उद्योगवाद की बुराइयों के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने इतना अरुचिकर रूप धारण नहीं किया, किन्तु योरुप के अन्य राष्ट्रों ने कम कट्टर अथवा अधिक उग्र संहारक तरीक़े अख्तियार किये है। हिटलर ने समाजवाद के साथ शुरूआत की और उचित सुधारों के साथ उद्योगवाद की

गति तेज़ करने के लिए तानाशाही हुकूमत की स्थापना की। इटली ने राजतन्त्र की ओट में जो मार्ग ग्रहण किया, वह तानाशाही से ज्यादा भिन्न नहीं है, किन्तु वहाँ की संस्थाओं ने हिंसा को उस हद तक नहीं अपनाया जिस हदतक हिटलरवाद ने अपनाया है। रूस ने एक क़दम और आगे बढ़ाकर ज़ार और उसके परिवार को मौत के घाट उतार दिया, निजी सम्पत्ति और निजी विदेशी व्यापार को उठा दिया और उस दल के द्वारा शासन चला रहा है जिसकी सदस्य-संख्या कुल आबादी का सौवाँ हिस्सा भी नहीं है। हाँ, रूस का उद्देश्य अपने-आपको स्वावलम्बी बनाना है, और इसके लिए उसने उद्योगवाद को उसकी बुराइयाँ दूर करते हुए अपनाया है। इस प्रकार हर उदाहरण में बीसवीं शताब्दी में योरुप के विभिन्न राष्ट्रों की सामाजिक और आर्थिक प्रणालियों में जो परिवर्तन हुए हैं, वे उन देशों में प्रचलित पुरानी प्रणालियों के प्रत्यक्ष परिणाम हैं; इतना ही नहीं, उनको प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। लोगों ने लम्बे अर्से तक सहन किया और खूब सहन किया, और अब उसके विरुद्ध विद्रोही बन गये हैं।

इन बातों से मालूम होगा कि प्रत्येक देश में जहाँ समाजवाद ने या उससे सम्बन्धित और किसी वाद ने सिर उठाया है, वहां प्रत्यक्षतः सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण ही ऐसा हुआ है। बहुतसे स्थानों में निराशा के भीतर से आंदोलन पैदा हुआ और लोगों के असन्तोष ने अमुक आदर्शवाद से प्रेरित होकर श्रेष्ठतर समाज-व्यवस्था और आर्थिक संगठन की रचना की, जिसकी कल्पना आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्था में सम्भवतः मुश्किल से ही किसी ने की हो। हिन्दुस्तान में भी सर्वत्र इसी प्रकार का असन्तोष विद्यमान है। इसलिए सरल आलोचक की निगाह में वही उपाय तत्काल आ जाते हैं जिनको पश्चिमी राष्ट्रों ने अपनाया है।

हिन्दुस्तान के हालात

किन्तु यदि हम अपने यहांके हालात पर कुछ विस्तार के साथ गौर

करेंगे तो यह मालूम करना मुश्किल न होगा कि पश्चिम की उन परिस्थितियों में, जिनके कारण वहां विद्रोह की हलचलें शुरू हुईं, और पूर्व अर्थात् हिन्दुस्तान की परिस्थितियों में व्यापक और मौलिक भेद हैं। हमारे देश में पश्चिम सरीखा उद्योगवाद नहीं है। आखिर सारे हिन्दुस्तान के शहरों में कल-कारखानों से सम्बन्धित जन-संख्या १५ लाख ही तो है। और हमारी कुल आबादी ३५ करोड़ है, जिसमें से प्रायः नौ-दसांश लोग खेती के धन्धे पर निर्वाह करते हैं। बम्बई के मज़दूर भी अंशतः खेतीहर आबादी में से निकले हुए हैं। वे आस-पास के गांवों से वहां इकट्ठे होगये हैं। ह्विटले कमीशन ने इस प्रकार के मिश्रित शिक्षण के लाभ को महसूस किया है, हालांकि विशुद्ध औद्योगिक दृष्टिकोण से यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इस प्रकार की व्यवस्था दुधारी तलवार का काम देती है।

कुछ भी हो, यह सत्य है कि नौ-दसांश लोग अब भी गाँवों में रहते हैं। उनकी क़िस्मत अपने गाँवों के साथ गुँथी हुई है। वस्तु-स्थिति यह होने पर भी राजनैतिक क्षितिज पर शहरों की समस्यायें ही निस्सन्देह ज्यादा अंकित होती हैं। किन्तु जब नये आन्दोलन जारी किये जारहे हैं, यह अच्छा होगा कि हम ज्यादातर अपनी आँखों के आगे आनेवाले दृश्यों के साथ बह जाने के बजाय स्थिति की वास्तविकताओं को भी समझ लें। बुद्धिमान आलोचक समाज की परिस्थितियों का अध्ययन करेगा और इस बात का खुद ही निर्णय करेगा कि जो इलाज बताया जाता है वह वर्तमान परिस्थितियों में कहाँतक अनुकूल है।

हम देख चुके हैं कि पश्चिम में किस प्रकार उद्योगवाद का असर लोगों पर क्रमशः कमज़ोर होता गया है। दो राष्ट्रों ने, जो उसके सबसे ख़राब पुजारी रहे हैं, अर्थात् इंग्लैण्ड और जर्मनी ने, कटु अनुभव के बाद यह महसूस किया कि हमेशा के लिए आयात की अपेक्षा विदेशी निर्यात पर निर्भर रहना असम्भव होगा। जहाँ तक इन देशों का सम्बन्ध है, निर्यात तैयार माल का होता है और आयात कच्चे माल और खाद्य-

सामग्री का होता है। यदि औद्योगिक मनोवृत्ति रखनेवाला हरेक राष्ट्र उद्योगवाद के सिद्धान्त पर चलकर समृद्ध होना चाहे तो उसको हमेशा अपना तैयार माल दूसरे देशों को भेजना होगा। किन्तु न केवल स्वावलम्बी होने की बल्कि निर्यात करने की वही लगन दूसरे राष्ट्रों पर भी हावी हो सकती है। उस दशा में सतत प्रतिस्पर्द्धा का क्रम शुरू हो जायगा और हरेक राष्ट्र ज्यादा-से-ज्यादा बेचना और कम-से-कम खरीदना पसन्द करेगा। जब सभी राष्ट्रों की ऐसी प्रवृत्ति हो जाती है तो उनको बाज़ार नहीं मिलते और उन्हें दूसरी निर्बल जातियों का शोषण शुरू करना पड़ता है।

पूर्व का शोषण

अबतक पश्चिमी राष्ट्रों के लिए पूर्व शोषण का अच्छा क्षेत्र रहा है। किन्तु जब जापान पश्चिम के सर्वोपरि औद्योगिक राष्ट्रों का सफलतापूर्वक मुक़ाबिला करने लगा है, जब चीन युगों की शिथिलता छोड़ चुका है और हिन्दुस्तान में नवीन राष्ट्रीय चेतना प्रस्फुटित हो रही है, जब अफ़गानिस्तान प्रगतिशील राष्ट्रों के साथ क़दम बढ़ा रहा है, फिलस्तीन और सीरिया पश्चिम के हाल के आक्रमणों से बचकर तेज़ी से उठ रहे हैं, और जब तुर्किस्तान योरुप का बीमार और मिश्र विदेशी राष्ट्रों का खिलौना नहीं रहा, तब यह कहा जा सकता है कि इंग्लैएड और जर्मनी के लिए शोषण का क्षेत्र कम-से-कम रह गया है। सौभाग्य से फ्रांस इस स्थिति में है कि वह अपनी औद्योगिक और कृषि की पैदावार का संतुलन कर सकता है। इटली औद्योगिक की अपेक्षा कृषि-प्रधान देश अधिक है। वह भी उन क्षेत्रों में स्वावलम्बी बनने की तेज़ी के साथ कोशिश कर रहा है, जिनमें वह पिछड़ा हुआ था।

इन सबसे रूस का उदाहरण भिन्न है। उसने अकेले और सफलतापूर्वक लड़ाई लड़ी है। उसने उत्पादन की ज़बरदस्त योजना बनाकर अपनी सब ज़रूरतें स्वयं ही पूरी की हैं। उसने न केवल कल-कारखाने ही बनाये, विशाल धौंकनियाँ और भट्टियाँ ही बनाईं, बल्कि मांस की आयात बन्द

करने के लिए प्रथम पांच वर्षों में एक करोड़ खरगोशों का लालन-पालन किया। उसने विदेशी व्यापार का दरवाज़ा भी बन्द कर दिया है। विदेशी व्यापार की मात्रा घटाकर कम-से-कम करदी है। जो थोड़ा-बहुत व्यापार होता है वह राज्य की मारफ़त होता है, ज्यादातर चीज़ों के विनिमय के लिए होता है और तभी होता है जब रुपये की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

इस प्रकार पश्चिम के राष्ट्र स्वावलम्बी बनने के लिए मजबूर हो गये हैं। उदाहरणस्वरूप हमने पढ़ा कि जर्मनी को इस साल सर्दी में अपनी चीज़ों का हरेक व्यक्ति के लिए निश्चित बँटवारा कर देना पड़ेगा, क्योंकि वहाँ निर्यात से आयात का खर्च पूरा नहीं हो पाता है। इस प्रकार यदि पश्चिम के राष्ट्र अपने पूर्वी बाज़ार खो चुके हैं और अपना तैयार माल आपस में एक-दूसरे को नहीं बेच सकते तो उन सबको आत्म-निर्भर और स्वावलम्बी बनना पड़ेगा। जब यह स्थिति पैदा हो जायगी तो निर्यात के लिए चीज़ों का बनना बन्द हो जायगा, स्थानीय खपत के लिए उत्पत्ति होती रहेगी और लोग इस बात को कभी मंजूर न करेंगे कि एक आदमी तो माल पैदा करे और वे लाखों की संख्या में माल का उपयोग कर उत्पादक के लिए मुनाफ़े या दौलत का ढेर लगावें और गगनचुम्बी महलों का निर्माण करके खुद तंग और अंधेरी कोठरियों में पड़े रहें। जब बड़े पैमाने पर माल तैयार होना बन्द हो जायगा, तो श्रमिकों को मज़दूरी न मिलेगी। उस दशा में बेकारी का यही इलाज होसकता है कि या तो सहयोगात्मक पद्धति पर उत्पत्ति का मुनाफ़ा बाँट लिया जाय या प्राचीन गृह-उद्योगों का आश्रय लिया जाय। इस प्रकार शायद हम थोड़े सुदूर भविष्य की कल्पना कर रहे हैं, किन्तु जब हम राष्ट्रों के भाग्यों की कल्पना कर रहे हैं और सारे भविष्य की ही योजना बना रहे हैं तो यह अच्छा होगा कि हम धुंधलेपन की अपेक्षा गहराई से दूर तक देखने की कोशिश करें।

हिन्दुस्तान का सामाजिक-आर्थिक संगठन

डेढ़ शताब्दी तक अकल्पित समृद्धि और अप्रत्याशित कष्ट-सहन के

बाद योरुप ने महसूस किया कि आत्म-निर्भरता और स्वावलम्बन का आदर्श अनिवार्य है और यह कि गृह-उद्योग और हाथ की दस्तकारियों की ओर लौटना होगा। सौभाग्य से यह आदर्श ही हिन्दुस्तान की युगों पुरानी समाज-व्यवस्था का मूल आधार है—उस व्यवस्था का जो समय और परिस्थितियों की टक्करें झेलने और लगातार आततायी आक्रमणों का सामना करने के बाद आज भी जीवित है। भूतकाल में हमारे यहाँ भी शहर बसे हुए थे जो दुनिया के काफिलों के लिए मोती और सोने के बाज़ार थे। वे देश में दौलत लाते थे, आजकल के शहरों की तरह देश की दौलत को खींच नहीं ले जाते थे। किन्तु हिन्दुस्तान प्रधानतः गाँवों का मुल्क है, क्योंकि सात लाख गाँवों के मुक़ाबिले में दर्जन दो दर्जन शहरों और हज़ार दो हज़ार कस्बों की क्या गिनती? हमारे गाँवों में बिखरे हुए झोंपड़े नहीं हैं, बल्कि उनमें एक ही क़िस्म की सुगठित सुविभाजित आबादी बसी हुई है, सभ्य-जीवन के लिए आवश्यक हर दस्तकारी का उसमें समावेश है। गाँवों में बढ़ई और लुहार, राज और सुनार, कतवैया और जुलाहा, छीपा और रंगसाज़, धोबी और नाई, मोची और किसान, कवि और लेखक सभी रहते हैं। ये सब मिलकर गाँव को राष्ट्र की स्वाश्रयी और स्वावलम्बी इकाई बना देते हैं। ऐसी दशा में आवागमन के साधन बन्द होजायँ अथवा गाँव बाढ़ या सेना से घिर जाय तो भी उसका क्या बिगड़े?

हमारे लिए यह ख़ासतौर पर सौभाग्य की बात है कि हम ऐसे सामाजिक और आर्थिक संगठन के धनी हैं जिसके लिए पश्चिमी राष्ट्रों को खोज करनी पड़ी और जिसके पुनरुद्धार के लिए उनको मुश्किल का सामना करना पड़ रहा है। यह ऐसा संगठन है जो सबके लिए काम सुलभ करता है और सबके लिए काम सुलभ करने का अर्थ हुआ हरेक के लिए भोजन और वस्त्र की व्यवस्था करना। जब भोजन और वस्त्र की व्यवस्था होगई तो बाद में अवकाश भी मिलेगा। अवकाश ज्ञान और संस्कृति प्राप्त करने का अवसर देता है और मनुष्य के लिए उच्चतर जीवन का, आत्मतुष्टि का द्वार खोल देता है। गाँवों में न केवल सबके लिए काम की ही व्यवस्था

की गई है, बल्कि धन्धों को प्रायः वंशपरम्परागत बना दिया गया है ताकि हस्तकौशल और बौद्धिक प्रतिभा सुरक्षित रह सके । यही वजह है कि हिन्दुस्तानी दस्तकारी को इतना महत्व प्राप्त हुआ, आज भी प्राप्त है और जुलाहे और कुम्हार तत्ववेत्ता बन सके। कारीगरों की पंचायतें पता नहीं यहाँ कितने अर्से से क़ायम हैं जो न केवल उत्पादन की मात्रा पर ही अंकुश रखती हैं, बल्कि चीज़ों की अच्छाई-बुराई पर भी निगाह रखती हैं। इसीलिए सस्ती और रद्दी चीज़ें बनाना, पश्चिम जैसा दिखावटी किन्तु बेकार माल तैयार करना गुनाह ही नहीं पाप समझा जाता है । दस्तकारियों में न केवल कला का ही ख़याल रक्खा जाता है, बल्कि धार्मिक श्रद्धा-भक्ति का आदर्श सामने रहता है। इस प्रकार धार्मिक निषेध प्रतिस्पर्द्धात्मक प्रणाली की अनैतिकताओं पर वांछनीय अंकुश का काम करते हैं। संक्षेप में, हमारे गाँव सहयोगी परिवारों के समूह हैं जहाँ व्यक्ति समाज के लिए और समाज व्यक्ति के लिए काम करता है।

सावधानी की ज़रूरत

अतः हिन्दुस्तान की वर्तमान परिस्थितियों में समाजवाद की योजना लागू करने के प्रश्न पर विचार करते समय हमको इस बात से प्रभावित न होना चाहिए कि कुछ उद्योगपतियों ने मज़दूरों को चूसा है अथवा अधिकतर जमींदारों ने किसानों का शोषण किया है। इन परिस्थितियों का बेशक हमको सामना करना पड़ेगा, किन्तु देश की ज़रूरतों का फ़ैसला करते समय यदि हमने उनको अपनेपर हावी होजाने दिया तो हम अपना संतुलन खो देंगे। यह हमारी ख़ुशक़िस्मती है कि हम ऐसे सामाजिक और आर्थिक सङ्गठन के उत्तराधिकारी हैं जिसमें रुपये और संस्कृति के बीच बराबर साम्य क़ायम रक्खा गया है। उसमें ज्ञान कमाने का नहीं सेवा का साधन माना जाता है, और यह निर्देश किया गया है कि सम्पत्तिवान ज्ञानवान लोगों का निर्वाह करें। विद्या का दरिद्रता से नाता जोड़ा गया है और धन को समाज में दूसरा स्थान दिया गया है। समाजवाद केवल पैसे की प्रधानता के खिलाफ़ बग़ावत है, किन्तु जिस समाज-व्यवस्था में

पैसे को प्रधानता नहीं दी गई, वहाँ इस बगावत की क्या ज़रूरत रह जाती है ?

दरअसल भारतीय समाज का निर्माण ही उस विद्रोह के फलस्वरूप हुआ है। वह युगों की कसौटी पर सफल साबित हुआ है, और इसलिए उसकी एक बार फिर परीक्षा की जानी चाहिए। समाज के संगठन का आधार पैसा नहीं, सेवा है और यह नया माप प्रस्तुत करता है। यह प्रेम का परिचायक और संयुक्त जीवन का स्तम्भ है। जहाँ सेवा मानवी सम्बन्धों का मूल आधार होती है, वहाँ प्रेम जीवन का स्रोत सिद्ध होगा। उसी के बल पर वास्तव में सेवा की भावना क़ायम रह सकती है। और जब प्रेम और सेवा समाज के आधार बन जायँगे तो शक्ति और धन को बाद में स्थान मिलेगा। शक्ति का स्थूल स्वरूप पैसा है। पश्चिम में शक्ति और पैसा ही समाज के आधार हैं। उनके कारण वहाँ वर्गों और आम-जनता में संघर्ष है, प्रतिस्पर्द्धा की भावना सर्वव्यापी हो रही है, भौतिक सम्पत्ति की भावना की भूख बढ़ी हुई है, बाज़ारों की तलाश है और सैनिकवाद की भावना ज़ोरों पर है। उनको हटा दीजिए या उनका प्रभाव कम-से-कम कर दीजिए; आप ऐसे समाज की रचना कर सकेंगे जो दूसरे समाजों से सर्वथा भिन्न होगा। एक शब्द में कहें तो हम अपने प्राचीन समाज पर पुनः पहुँच जावेंगे। अवश्य ही उसपर धूल चढ़ गई है। योरुप के इस आदर्श ने कि ज्ञान पैसा कमाने का साधन है, विद्या के पूर्वी आदर्श को भ्रष्ट कर दिया है। पिछली शताब्दी में सत्ता और अधिकार की भूख ने मानव-स्वभाव को पतित कर दिया है, हालाँकि सत्ता और अधिकार वास्तव में सेवा के ही साधन हैं। यह जो जंग लग गया है, भ्रष्टता आगई है, बिगाड़ पैदा हो गया है, उससे हमको अपनी रक्षा करनी होगी और भीतरी धातु को गलाकर, जलाकर साफ़ करना होगा। जाति-प्रथा लोगों की परम्परागत शक्तियों की रक्षा करने के बजाय लड़ाई-झगड़े का दूसरा रूप बन गई है। कुछ अर्से से ब्रिटेन के संरक्षण में राजनीति को जातिगत और समुदायगत रूप दे दिये जाने के कारण उसका और भी पतन हो गया है। अतः यह हमारा तात्कालिक

काम है कि हम अपने वर्ण और आश्रम के आदर्शों का पुनरुत्थान करें और उनमें उनके धर्म की प्रस्थापना करें।

गाँधीवाद

जब किसी ज़माने में जब कोई बड़ा आदमी पैदा होता है तो यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि उस आदमी ने ज़माने को बनाया या जमाने ने उस आदमी को बनाया है। जहाँतक गाँधीजी और भारतीय समाज का ताल्लुक़ है, हमे यह मान सकते हैं कि दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ा है। समाज की परिस्थितियों ने गाँधीजी के मानस का पुनर्निर्माण किया है और गाँधीजी ने अपने व्यक्तित्व की छाप भारतीय समाज पर लगा दी है। उन्होंने एक नये धर्म का विकास किया है जो हिन्दू-समाज के चार वर्णों और चार आश्रमों के अलग-अलग धर्मों का सम्मिश्रण है। गाँधीजी ने अपने व्यक्तित्व में किसान और जुलाहे के, व्यापारी और व्यवसायी के, युद्ध करने और रक्षा करनेवाले क्षत्रिय और अन्ततः लोकसेवक के गुणों का एक साथ लमावेश किया है। सेवा और प्रेम के द्वारा वे स्मृतिकर्त्ता और सूत्रकार के दर्जेतक पहुँच गये हैं। उन्होंने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी के धर्मों को भी एक साथ अपनाया है। उन्होंने जीवन के आदर्शों का, जो एकान्तिक समझे जाते थे, सामंजस्य और समन्वय कर दिया है और उनको व्यापक और सर्वांगीण बना दिया है।

गाँधीजी, अनुभव करते हैं कि आज चार वर्णों का अस्तित्व नहीं रहा है, इसलिए जो लोग वर्णों को मानते हैं उनका यह कर्त्तव्य है कि वे पवित्रता और संयम के सर्वोपरि सिद्धान्तों का पालन करके उनकी पुनर्स्थापना करें! उन्होंने हिन्दू-समाज की शुद्धि करने की कोशिश की है, सोने पर जो आवरण चढ़ गया है उसको हटाने का प्रयत्न किया है। वे एक बार फिर सेवा और प्रेम के आधार पर समाज की पुनर्रचना करना चाहते हैं। "सर्वेजनाः सुखिनो भवन्तु" इस प्रार्थना का आदर्श उन लोगों के सामने फिर से पेश किया गया है जो दिन में तीन बार मन्त्रो

का उच्चारण करते हैं किन्तु उनका अर्थ कुछ नहीं समझते। इस दृष्टि से गाँधीजी के स्वराज्य का अर्थ सत्ता और शक्ति का उपयोग नहीं है, बल्कि प्रेम और सेवा के आदर्श के प्रचार द्वारा सबके लिए भोजन और वस्त्र सुलभ करना है। किन्तु भोजन और वस्त्र आकाश से नहीं गिर पड़ते, उनके लिए मेहनत-मज़दूरी करनी पड़ती है। इस उद्देश्य के लिए गाँधीजी ने शरीर-श्रम का उपदेश दिया है और प्रत्येक स्त्री, पुरुष और बच्चे के लिए कातना दैनिक यज्ञ क़रार दे दिया है। इस प्राचीन देश की विशाल मानवशक्ति में, जिसकी आबादी चीन से कुछ ही कम है; उन्होंने धन-दौलत का अभूतपूर्व स्रोत ढूँढ़ निकाला है। यह स्रोत व्यापार के संतुलन पर, बाज़ारों पर, साम्राज्यवाद और सैनिकवाद पर, विनिमय अथवा मुद्रा के पराभव और विस्तार पर अथवा वैज्ञानिक आविष्कारों और अन्वेषणों पर निर्भर नहीं करता है। यन्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा से इस मूलभूत समृद्धि के लिए कोई खतरा पैदा नहीं होता, क्योंकि सादा जीवन और उच्च विचार, कड़ी मेहनत और ईमान की कमाई का सादा आदर्श उसका आधार है।

गाँधीजी का मार्ग नकारात्मक मार्ग नहीं है। वह बड़ी ताक़त अथवा बड़ी प्रतिस्पर्द्धा के आगे झुकने का तो मार्ग है ही नहीं। जब विचार अनुकूल होते हैं और दिल में प्रेम पैदा हो जाता है तो मां की ओर से मिली हुई तुच्छ-से-तुच्छ चीजें अमूल्य हो जाती हैं और वे विदेशों से आने वाली बढ़िया-से-बढ़िया चीजों के मुक़ाबिले में खड़ी रह सकती हैं। इसके विपरीत गाँधीजी ने तो चीज़ें तैयार करने का बड़ा सस्ता तरीक़ा बता दिया है। वह इस प्रकार कि जो श्रम ठेके पर नहीं किया जाता, बल्कि अवकाश के समय और प्रेम की ख़ातिर किया जाता है, उसके मूल्य का हिसाब नहीं लगाया जाना चाहिए। इस प्रकार मालूम होगा कि भोजन और वस्त्र के मामले में, जो मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता है, गाँधीजी प्रायः स्वावलम्बन के पक्षपाती हैं। जहाँ व्यक्ति स्वावलम्बी है, वहाँ गाँव स्वावलम्बी हैं, क़स्बे स्वावलम्बी हो जायँगे और शहरों की वृत्ति स्वावलम्बन की ओर रहेगी। यह सब रक्त बहाकर, शक्ति के ज़ोर से, न होगा।

इसके लिए अधिकारों पर निरन्तर आग्रह करने के बजाय सीधी तरह कर्त्तव्य को अपनाना होगा, जबरदस्ती श्रम करने के बजाय स्वेच्छापूर्वक श्रम करना होगा, ताक़त के बजाय प्रेम से काम लेना होगा, महत्वाकाँक्षा के बजाय सन्तोष धारण करना होगा, जीवन-निर्वाह का माप बढ़ाने के बजाय घटाना होगा, मौज-शौक के बजाय संयम का पाठ पढ़ाना होगा और कूटनीति अथवा दम्भ के बजाय सत्य का आश्रय लेना होगा।

गाँधीवाद बनाम समाजवाद

यदि समाजवाद का उद्देश्य सबको समान सुविधायें देना है, तो गाँधीवाद का यह उद्देश्य है कि हरेक आदमी अपने समय और सुविधाओं का उच्च उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करे। यदि समाजवाद पूँजी-कर, भारी अतिरिक्त आयकर, जब्ती और शक्ति द्वारा सम्पत्ति को स्थानाच्युत करता है, तो गाँधीजी युगों पुरानी परम्परा का आह्वान करते हैं, जिसने अमीरी के मुक़ाबिले में निर्धनता को और धन के मुक़ाबिले में ज्ञान को महत्व दिया है। यदि समाजवाद अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्य की सहायता लेता है, तो गाँधीवाद अपनी सफलता के लिए प्रत्येक नागरिक के अन्तःकरण की उन्नति और संस्कृति के विकास पर विश्वास करता है। समाजवाद के बाहर से लादे हुए परिणाम दिखने में शानदार मालूम देते हैं, किन्तु वे वास्तव में अनिश्चित और ख़तरे से परिपूर्ण होते हैं। गाँधीवाद के परिणाम जो छोटे दिखाई देते हैं, लोगों की सद्भावनाओं के आधार पर मज़बूत और गहरी जड़ें जमा लेते हैं। समाजवाद को यह दुःखद दृश्य देखना पड़ा कि उसके पुजारी अपने सिद्धान्तों और शक्ति को स्थिर रखने के लिए तानाशाह बन गये। गाँधीवाद स्वेच्छापूर्वक स्वार्थत्याग करने में विश्वास करता है। उसने सांगली के ठाकुर, ढसा के दरबार गोपालदास देसाई और कालाकांकर (संयुक्तप्रान्त) के राजा जैसे आदमी पैदा किये हैं। अधिकाँश लोगों के लिए समाजवाद एक वृत्ति है, किन्तु गाँधीवाद कठोर सत्य है। समाजवाद दूसरों को उपदेश देता है; गाँधीवाद हरेक आदमी को उसका कर्त्तव्य सुझाता है। समाजवाद घृणा

और फूट द्वारा मानवता का प्रचार करना चाहता है; गाँधीवाद मानव-सेवा के लिए घृणा और फूट का त्याग करता है। समाजवाद ऐसे देश की खाद्य-सामग्री को इकट्ठी करता है; जहाँ के कुछ भाग बंजर हैं और फिर उस सामग्री को बाँट देता है, गाँधीवाद ऐसे देश में जहाँ हर तरह की मिट्टी और सतह मौजूद है और हर तरह की जलवायु और परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, हरेक आदमी से अपना भोजन-वस्त्र खुद पैदा करने का आग्रह करता है; समाजवाद मज़दूरी का हिसाब रखता है और हरेक आदमी को राज्य के लिए श्रम करने को विवश करता है; गाँधीवाद दुनिया को इस बात की श्रेष्ठता बताता है कि व्यक्तियों के प्रत्येक समूह की परम्परा के अनुसार उस समूह के हरेक स्त्री-पुरुष को अपने और अपने परिवार के लिए काम करना चाहिए। समाजवाद ऐसे समाज में, जहाँ परिवार के भीतर भी असमानता का बोलबाला है, सम्पत्ति का समान विभाजन करना चाहता है; गाँधीवाद हिन्दुओं के उत्तराधिकार विषयक क़ानूनों से लाभ उठाता है, जिनके अनुसार सभी लड़के पिता की सम्पत्ति के समान हक़दार होते हैं और मुसलमानों में तो लड़कियों को भी उचित हिस्सा मिलता है। समाजवाद पश्चिम की समाज-व्यवस्था के गोलमाल का इलाज हो सकता है, किन्तु गाँधीवाद समाज के ऐसे संगठन और कर्त्तव्यों को व्यक्त करता है जिनकी ऋषियों ने हज़ारों वर्षों पहले रचना की थी और जिनको आज दूसरा ऋषि पुनर्संगठित कर रहा है। इसीलिए तो गाँधीजी ने कराची में कहा था—

"गाँधी मर सकता है, किन्तु गाँधीवाद अमर रहेगा।"

: ६ :

गाँधीवाद और समाजवाद

[श्री के० सन्तानम]

मुझे इस ख़याल के लिए कोई वजह नहीं मालूम होती कि गाँधीवाद और समाजवाद तत्त्वज्ञान की दो प्रतिस्पर्धी प्रणालियाँ हैं अथवा वे समाज

के पुनर्संगठन की एक-दूसरे से भिन्न योजनायें हैं। मुझे इस बात में बड़ा नुक़सान दिखाई देता है कि हमारे नौजवान विचारक और कार्यकर्त्ता यह मानकर चलें कि उनको दोनों में से किसी एक को पसन्द करना होगा। गाँधीवाद और समाजवाद ये दो शब्द जिन विचारों के द्योतक हैं, उनको हिन्दुस्तान के दो सर्वप्रथम नेताओं ने निश्चित रूप में देश के सामने पेश किया है; और जब महात्मा गाँधी और पण्डित जवाहरलाल नेहरू कुछ मतभेदों के होते हुए भी निकटतम सहयोग के साथ काम कर रहे हैं, तब हम दोनों प्रणालियों की आदर्शों और तरीक़ों की भिन्नताओं पर ज़ोर देने के बजाय क्यों न उनके बीच में कोई-न-कोई सामंजस्य खोजने की कोशिश करें ?

इसमें कोई शक नहीं कि दोनों प्रणालियाँ पहली नज़र में बिलकुल विरोधी प्रतीत होती हैं। समाजवाद का यह दावा है कि वह मानव-जाति के ऐतिहासिक विकास के सूक्ष्म विश्लेषण पर खड़ा है; गाँधीवाद अपनी कल्पना के अनुसार उस विकास के लक्ष्य को अपना आधार मानकर चलता है। पहला बहिर्मुखी है और दूसरा अन्तर्मुखी। एक भौतिकवादी है और दूसरा आदर्शवादी। समाजवाद बुद्धिवादी होने में गर्व अनुभव करता है और गाँधीवाद मूलतः धार्मिक है। समाजवाद भाप और बिजली द्वारा संचालित उद्योगों और आधुनिकता की ज़ोरों से वकालत करता है, किन्तु गाँधीवाद गृह-उद्योगों को पहली जगह देना चाहता है। समाजवाद यांत्रिक कुशलता पर ज़ोर देता है और गाँधीवाद व्यक्तिगत चरित्र को समाज-पुनर्रचना का मुख्य आधार मानता है। दोनों की सभी विभिन्नताओं को एक शब्द में कहा जाय तो समाजवाद को "वैज्ञानिक भौतिकवाद" और गाँधीवाद को "क्रियाशील आदर्शवाद" कहा जा सकता है।

इस बात पर विचार करने के पहले कि क्या यह विरोधाभास उतना ही मौलिक है जितना कि पहली नज़र में दिखाई देता है, यह उपयोगी होगा कि मैं उन बातों को संक्षेप में लिख दूँ जिनको मैं दोनों के मुख्य सिद्धान्त मानता हूँ।

गाँधीवाद

गाँधीवाद, जैसा कि मैंने उसको समझा है, इस मौलिक आधार को लेकर चलता है कि मानव विकास का सर्वोपरि उद्देश्य है आत्मा की आध्यात्मिक पूर्णता। इसका निश्चय ही यह मतलब नहीं है कि मानव-शरीर अथवा मन या उन सामाजिक परिस्थितियों की उपेक्षा की जाय जो शरीर और आत्मा दोनों की स्वस्थता के लिए आवश्यक हैं। गाँधीवाद के अनुसार शरीर, मन और आत्मा के बीच में कोई विरोध नहीं है। किन्तु वह मानता है कि आत्मा अथवा आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए शरीर और मन का कड़ा नियमन आवश्यक है। गाँधीवाद खुराक और दैनिक जीवन-क्रम पर, विचारों और शब्दों की मितव्ययता पर, बड़ा ज़ोर देता है। सबसे अधिक वह शरीर की स्वस्थता के लिए, मन की शुद्धता के लिए और आत्मा की प्रसन्नता और पूर्णता के लिए, जो कि मानव प्रयत्नों का महान् उद्देश्य है, यह बिलकुल आवश्यक समझता है कि विकारों को वश में रक्खा जाय।

उपर्युक्त मौलिक कल्पना से तत्काल अहिंसा का सिद्धान्त सामने आ जाता है। अव्यवस्थित विकार और स्वार्थपरता ही हिंसा की जड़ें हैं। इनके साथ निरन्तर जीवनपर्यन्त संघर्ष करते रहना आन्तरिक विकास की अनिवार्य शर्त हैं। यह संघर्ष ढीला पड़ा नहीं कि अपने-आप जड़ता आ जाती है और पतन होने लगता है। जहाँ अहिंसा के सिद्धान्त का नकारात्मक रूप यह है कि हम अपनी घृणा करने, दबाने और सताने की वृत्तियों और इच्छाओं को धीरे-धीरे कम करें, वहाँ अहिंसा के सिद्धान्त के अनुसार यह भी कम ज़रूरी नहीं है कि विशुद्ध प्रेम और निःस्वार्थ कर्म का अभ्यास किया जाय।

गाँधीवाद के अनुसार समाज को इस प्रकार सङ्गठित किया जाना चाहिए कि उसके सदस्यों को ऊपर लिखे मुताबिक आध्यात्मिक विकास का अधिक-से-अधिक मौक़ा और सुविधायें मिल सकें। इसलिए गाँधीवाद शहरी जीवन की अपेक्षा ग्रामीण जीवन को पसन्द करता है। ग्रामीण

जीवन सादगी, शान्त विचार और अस्वास्थ्यकर उत्तेजना से बचाने के लिए अधिक उपयोगी होता है। गाँधीवाद सादे गृह-उद्योगों को पसन्द करता है, क्योंकि बड़े पैमाने पर चलनेवाले उद्योगों में पेचीदा और दमन-कारक सङ्गठन क़ायम हो जाता है जो व्यक्ति को अपने विकास के लिए आवश्यक स्वतंत्रता से वंचित कर देता है। गाँधीवाद की सबसे बड़ी खूबी शायद इसीमें है कि उसने अपने तरीक़े को पूर्णता की हद तक पहुँचा दिया है। वह अन्याय के सामने चुपचाप सिर झुका लेने में विश्वास नहीं करता। वह कठोर-से-कठोर दिल को पिघलाने के लिए अहिंसात्मक कष्ट-सहन की शक्ति में असीम विश्वास रखता है और सत्याग्रह का अमोघ हथियार देता है जो हर समय और हर परिस्थिति में मिल सकता है।

समाजवाद

अब समाजवाद का विचार करें। सभी समाजवादी समाजविकास की मार्क्स-कृत व्याख्या को समान रूप से स्वीकार करते हैं। यह ख़याल करना ग़लत है कि मार्क्स ने मानव-विचारों अथवा आध्यात्मिक मूल्यों को कोई महत्व नहीं दिया। समाज की भौतिक व्याख्या का जो दावा है वह यही कि यद्यपि समाज के ऐतिहासिक विकास में आध्यात्मिक विचार अंगभूत तत्त्वों के रूप में काम करते हैं, किन्तु आम जनता प्रभावित और संचालित सम्पत्ति के उत्पादन और विभाजन के तरीक़े द्वारा ही होती है। अबतक पूँजीपतियों के एक वर्ग ने उत्पत्ति के साधनों पर क़ब्ज़ा जमाकर मनमाने तौर पर उत्पादन और विभाजन का काम किया है। इस वर्ग ने धर्म, कला और मनुष्य की दूसरी हर महान सफलता का इस तरह उपयोग किया है कि जिससे उसके ही उद्देश्यों की पूर्ति हो और उसकी ताक़त मज़बूत बने। मध्ययुग में इस वर्ग की सत्ता सीमित थी, कारण उस ज़माने में उत्पत्ति के साधन भी प्रारम्भिक ही थे। किन्तु विज्ञान और यन्त्रविद्या के विकास के साथ इस सत्ता में भारी और भयंकर परिणाम में वृद्धि होगई है और उसी हिसाब से शोषित लोगों की निर्भयता और निस्सहायावस्था बढ़ गई है। वर्ग-युद्ध के इस विस्तार के कारण आधुनिक

समाज तेज़ी के साथ भयंकर संघर्ष की ओर चला जा रहा है। इस संघर्ष का यह नतीजा होगा कि शोषित लोग उत्पत्ति के साधन पूँजीपतियों के हाथ से छीन लेंगे, उनको सार्वजनिक सम्पत्ति बना डालेंगे और वर्ग-हीन समाज की स्थापना करेंगे जो पहली बार जन-साधारण को शरीर, मन और आत्मा के विकास का खुला अवसर देगा।

समाजवाद का यह मानना है कि जबतक ऐसा नहीं होता, इस प्रकार के विकास का सच्चा अवसर पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग के चन्दलोगों को ही मिलेगा। श्रमिक वर्ग के लोगों को यह अवसर इसलिए मिलेगा कि पूँजीपति श्रमजीवियों में फूट डालने और उनको गिराने के लिए श्रमजीवियों में से कुछपर कृपा कर दिया करते हैं। समाजवादियों में जो मतभेद है वह ज्यादातर इस लिए है कि उनको वर्ग-युद्ध की प्रगति सम्बन्धी कल्पनायें भिन्न हैं और वे इस बारे में एकमत नहीं हैं कि उन्हें किस हद तक और किस रूप में वर्गयुद्ध को जान-बूझकर बढ़ाना और चलाना चाहिए।

क्या दोनों में विरोध है ?

अब मैं इस बात पर विचार करूँगा कि गाँधीवाद और समाजवाद का प्रकट विरोध कहाँतक वास्तविक है! यदि मैं इस बात का सम्पूर्ण और विस्तृत विश्लेषण करूँ तो यह लेख बहुत लम्बा हो जायगा। किन्तु मुझे ऐसा मालूम होता है कि दो बाजू होते हुए भी सिक्का एक ही होसकता है। क्या गाँधीवाद और समाजवाद एक ही समस्या के दो पहलू नहीं हो सकते? यह सम्भावना के क्षेत्र से आगे की बात है, यह स्पष्ट होसकता है यदि हम समाजवादी तत्त्वज्ञान का आम समाजवादियों की अपेक्षा थोड़ा ज्यादा अध्ययन करें। वर्ग-रहित समाज का उद्देश्य क्या है? यदि उसका उद्देश्य केवल शारीरिक आवश्यकताओं और सुविधाओं की व्यवस्था करना हो तो ब्रिटेन, अमेरिका, स्केण्डिनेविया आदि देश उस सतह पर पहुँच गये हैं, जो मैं समझता हूँ, उस स्थिति से ज्यादा कम नहीं हैं जिसको पाने की समाजवाद आशा कर सकता है। सच तो यह है कि यदि ब्रिटेन

वास्तव में समाजवादी होजाय और पिछड़े हुए देशों का शोषण करना बन्द करदे तो उसके जीवन का भौतिक माप बढ़ने की अपेक्षा घट ही सकता है। मेरा कहना यह है कि मानव कार्यों में मुख्य प्रेरणा के तौर पर लोभ और लालच को नष्ट करने के लिए वर्गरहित समाज की जितनी ज़रूरत है उतनी भौतिक सुख के लिए उसकी ज़रूरत नहीं है। भौतिक सुख तभीतक आदर्श होसकता है जबतक कि आप लोग अनिवार्य रूप से कुचल डालने वाली दरिद्रता के शिकार हैं।

बौद्धिक और धार्मिक पहलू

इसके अलावा बौद्धिक और धार्मिक पहलू में भी इतना विरोध नहीं होता, जितना कि कुछ लोग ख़याल करते हैं। जहाँ किसी लक्ष्य अथवा उद्देश्य की प्रत्येक कल्पना मूल में अनिवार्यतः धार्मिक होती है, वहाँ कोई धार्मिक मत-मतान्तर अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकता यदि वह बुद्धिसंगत विचारों का विरोधी हो। यह विवाद तक़दीर और तदबीर के पुराने झगड़े का ही दूसरा रूप है। जब हम इतिहास पर नजर डालते हैं, तो हमको मालूम होता है कि कठिन आवश्यकताओं ने ही उसका निर्माण किया है। वर्तमानकालीन नाटक के पात्र और भविष्य के निर्माणकर्त्ता होने की हैसियत से हमारी विचारधारायें और आकाँक्षायें घटनाओं पर गहरा असर डालती हैं। कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र बाह्य तत्त्वों की मर्यादाओं से आगे नहीं बढ़ सकता। किन्तु उनके भीतर रहते हुए हमको अलग-अलग योजनाओं में से किसी एक को पसन्द करने का अधिकार मिला हुआ है। हम उसका तभी उपयोग कर सकते हैं जब हमारा कोई लक्ष्य हो। इस लक्ष्य का निर्माण करना ही धर्म का अनिवार्य गुण है। हिन्दुओं ने अपनी धार्मिक प्रणालियों में चार्वाक की भौतिक प्रणाली को शामिल कर गहरी दूरदर्शिता का परिचय दिया है।

शक्ति द्वारा संचालित उद्योगों और गृह-उद्योगों का सवाल ही एक ऐसा सवाल है कि जहाँ गाँधीवाद और समाजवाद का विरोध मिटना क़रीब-करीब असम्भव-सा प्रतीत होता है। यहाँ भी मुझे ऐसा अनुभव

होता है कि व्यवहार की अपेक्षा सिद्धान्त में विरोध अधिक है। समाजवादी रूस का उदाहरण इस बारे में अच्छी रोशनी डालता है। यद्यपि वहाँ एक सिरे पर बड़े-बड़े कल कारखाने क़ायम किये गये हैं, किन्तु दूसरी ओर उतना ही शक्तिशाली किन्तु कम प्रकाशित आन्दोलन चलाया गया है जिसके अनुसार हरेक श्रमिक को थोड़ी निजी ज़मीन दी गई है, और गोपालन मुर्गी व मधुमक्खी-पालन और हर तरह के गृह-उद्योगों की शिक्षा दी गई है।

रोज़मर्रा बड़े पैमाने पर घिस-घिस करने के बजाय प्रकृति द्वारा प्राप्त की गई शक्तियों के उपयोग से मानव कौशल के लिए विस्तृत क्षेत्र खुल जाता है। मैं नहीं समझता कि कल-कारखानों और गृह-उद्योगों का अपना-अपना स्थान निर्दिष्ट करने में कोई कठिनाई हो सकती है। यह ऊटपटांग ढंग से अथवा कठमुल्लापन से न होना चाहिए। किन्तु मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं हैं कि यह हो सकता है और होना चाहिए।

तरीक़ा

तरीक़े के बारे में भी एक शब्द कह दूँ। आम जनता के संगठन की प्राथमिक अवस्थाओं में सामाजवादी भी सत्याग्रह की ताक़त को मह-करने लगे हैं। उनका कहना सिर्फ़ इतना ही है कि सम्पत्ति और सत्ता के वास्तविक परिवर्तन के लिए थोड़ा शारीरिक बल आवश्यक है। मेरा ख़याल है कि यह कथन सही है, किन्तु यह तत्व आधुनिक राज्य-संस्था की क़ानून बनाने की सत्ता में मौजूद है। सत्याग्रही इस सत्ता का दोनों तरह उपयोग कर सकते हैं। प्रथम तो वे जो अधिकारारूढ़ हों उनको अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस सत्ता का उपयोग करने के लिए विवश कर सकते हैं; दूसरे वे खुद समय-समय पर लोकसत्तात्मक शासन-तंत्र का लाभ उठाकर इस सत्ता का सीधा उपयोग कर सकते हैं। पिछली बात ज्यादा असरकारक मालूम होती है और यही मुख्य कारण है कि मैंने कांग्रेस द्वारा पदग्रहण का समर्थन किया है।

यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि दुनिया-भर में दोनों प्रणालियों का सामंजस्य हो सकता है, किन्तु मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि हिन्दुस्तान

के लिए तो इस प्रकार का सामंजस्य ही एकमात्र प्रगति का मार्ग है। दो कारणों से हरेक हिन्दुस्तानी को इसी परिणाम पर पहुँचना चाहिए। हथियारों पर प्रतिबन्ध होने, धार्मिक परम्परा और साम्प्रदायिक तथा जातिगत विभिन्नता के कारण इस देश के आम लोगों को हिंसात्मक क्रान्ति के लिए संगठित करने में जो कठिनाइयाँ थीं, वे गत १७ वर्षों से गाँधीजी द्वारा अहिंसा के प्रचार के कारण हज़ार गुना बढ़ गई है। इस महापुरुष के काम को नष्ट करके लोगोंको सर्वथा भिन्न राह पर चलाने की कोशिश करना मूर्खतापूर्ण कार्य होगा।

दूसरे, हमारी कृषि की आबादी हमारी औद्योगिक आबादी के परिमाण से बढ़ रही है और प्रति व्यक्ति एक एकड़ से भी कम ज़मीन हिस्से में आती है। भौतिक सुख के अजीबोगरीब स्वप्न बिलकुल अव्यावहारिक हैं और लोगों को गुमराह ही करते हैं। हिन्दुस्तान में सादगी का प्रचार उसके तत्त्वज्ञान की अपेक्षा उसकी आबादी के कारण अधिक है। यदि सारी निजी सम्पत्ति पूरी तरह से राष्ट्रीय सम्पत्ति बना दी जाय और रूस की तरह पुनर्रचना करदी जाय तो भी जन-साधारण का जीवन-माप सामान्य से ऊँचा नहीं बनाया जा सकता। हमको राष्ट्र के नाते सादगी के सौन्दर्य को अपनाना होगा।

कुछ प्रस्ताव

मैं कुछ मोटी सूचनायें देकर यह लेख समाप्त करूंगा, जिनके आधार पर हिन्दुस्तान गाँधीवाद और समाजवाद में सामंजस्य कर सकता है।

१. उसको पूरी तरह अहिंसा के तरीक़े को अपनाये रहना चाहिए, बल का उपयोग लोकतंत्रात्मक पद्धति द्वारा क़ानून बनाने तक ही मर्यादित रक्खा जाय।

२. उसको सादगी के आदर्श का पूरी तरह अनुसरण करना चाहिए।

३. राजतिनैक सत्ता को एक जगह केन्द्रित न करके ज्यादा-से-ज्यादा विभाजित किया जाय।

४. शक्ति द्वारा संचालित उद्योगों का स्वामित्व और संचालन राष्ट्र के हाथ में हो।

५. कृषि की ज़मीन न तो बेची जाय, न रहन रक्खी जाय। किन्तु खेती के कामों के लिए ज़मीन को निजी सम्पत्ति माना जा सकता है।

६. प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति का काम राज्य के हाथ में रहे।

७. कृषि, करघे और दूसरे गृह-उद्योगों को संरक्षण दिया जाय और आधुनिक कल-कारखानों को उनके क्षेत्र में दखल देने से कड़ाई के साथ रोका जाय।

: ७ :

समाजवाद और सर्वोदय[1]

[श्री नरहरि परीख]

दुनिया के सभी देशों में आज पूँजी का ज़ोर है। ज़मीन, खान तथा छोटे बड़े कारखानों पर, जिनमें उत्पत्ति के साधन और भाप के ज़ोर पर चलनेवाली रेल तथा स्टीमर जैसी सवारियों के साधन भी आजाते हैं, थोड़े-से पूँजीपतियो का ही स्वामित्व है। स्वामित्वहीन होजानेवाले किसानों तथा मज़दूरों को अपने रोज़मर्रा के खाने-पीने के लिए रोज़ मजूरी करके कमाई करनी पड़ती है। वे अगर पूँजीपति के क़ब्ज़े में पड़े हुए उत्पत्ति के साधनों पर मजूरी न करें तो उन्हें खाने को न मिले। पूँजीपति अपनी ही शर्तों पर मज़दूरों को अपने स्वामित्व वाले साधनों पर काम करने देते हैं। उन्हें जितना चूसा जा सके उतना चूसकर और यथासम्भव कम-से-कम

१. कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार होनेवाली समाज-रचना के लिए, जिसे अमल में लाने का ज़बरदस्त प्रयत्न आज रूस में हो रहा है, हमने समाजवाद शब्द का प्रयोग किया है।

सर्वोदय का मतलब है, समाज के केवल एक वर्ग का नहीं बल्कि सारे समाज का उदय। समाज के सारे वर्ग और सारी जातियाँ अपनी-अपनी मर्यादा में रहें और अन्य वर्गों या जातियों का न तो शोषण करें और न

मज़दूरी देकर ज्यादा मुनाफ़ा वे लेलेते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति के साधनों पर स्वामित्त्व रखने के बल पर यह छोटा-सा पूँजीपति वर्ग किसान-मज़दूरों पर अपना आधिपत्य रखता है और उन्हें चूसता है।

राजनैतिक सत्ता भी हरेक देश में इस पूँजीपति वर्ग के ही हाथ में है। इंग्लैएड, फ्रान्स और अमेरिका जैसे देश प्रजातन्त्रीय कहलाते हैं; लेकिन वहां भी प्रजा यानि आम लोगों का राजनैतिक मामलों में कोई अंकुश नहीं होता। सारा तंत्र इस तरह आयोजित होता है कि उसमें पूंजीपतियों की ही चलती है और उन्हीं के स्वार्थों का ध्यान रक्खा जाता है। निजी स्वामित्व वालों के पारस्परिक सम्बन्धों पर नियन्त्रण रखना और मज़दूरवर्ग की ओर से उन पर कोई आक्रमण हो तो उससे पूंजी-पतियों की सम्पत्ति की रक्षा करना, यही सब पूँजीपति देशों में सरकार का मुख्य काम होगया है। इस कार्य के लिए भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न पद्धतियों की योजना की जाती है। फिर सारी दुनिया को लूटकर उस लूट में से थोड़े-बहुत टुकड़े अपने मज़दूरों को देकर उन्हें संतुष्ट रखने का प्रयत्न भी जारी है। फोर्ड जैसे लोग अपनी मोटरें बेचकर सारी दुनियां से धन खींच लाते हैं और फिर अपने मज़दूरों को खूब सुविधायें देते हैं। इंग्लैएड को हमारे देश तथा दूसरे उपनिवेशों में से लूटने का खूब मौक़ा मिलता है, इसलिए वह और देशों के मुक़ाबिले अपने यहाँ के मदूज़रों को अधिक अच्छी हालत में रख सकता है। मगर वहाँ भी बेकारी **उन्हें सतायें, बल्कि परस्पर न्यायपूर्ण व्यवहार करें और हिलमिलकर रहें, वह सर्वोदय है। अमीर-ग़रीब, मालिक-मज़दूर, ज़मींदार और किसान इन सब वर्गों के बीच आज जो विद्वेष नज़र आता है उसके कारण दूर हों। उनके बीच पड़ी हुई खाई पटे, उनमें परस्पर विश्वास और मेल पैदा हो, तथा समाज से अन्याय और ज़ुल्म का अन्त हो। गांधीजी के इस कार्य-क्रम को हमने सर्वोदय नाम दिया है। रस्किन की** Unto This Last **पुस्तक का गांधीजी ने गुजराती में जो अनुवाद किया, उसका उन्होंने 'सर्वो-दय' नाम रक्खा है; उसी पर से यह शब्द लिया गया है।**

और दरिद्रता न हो ऐसी बात तो नहीं ही है। इस समय प्रचलित पूँजी-वाद के जो अनिष्ट परिणाम सारी दुनिया को सता रहे हैं उनमें से ख़ास-ख़ास निम्न प्रकार हैं: —

१. बेकारी;

२. दरिद्रता और भुखमरी;

३. मूल्य का निश्चय मानव-सुख के माप से नहीं बल्कि धन के माप से होना;

४. जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की उत्पत्ति की उपेक्षा करके कम ज़रूरत वाली वस्तुओं की अधिकाधिक उत्पत्ति;

५. सट्टे तथा बाज़ार की प्रतियोगिता के कारण उपयोगी वस्तुओं का विनाश और बिगाड़;

६. उद्योग-व्यवसाय में पिछड़े हुए देशों का शोषण और वहाँ के लोगों की दुर्दशा;

७. जनता की कमर तोड़ दे, ऐसा उत्तरोत्तर बढ़ता जानेवाला सैनिक-व्यय का बोझ।

हरेक पूँजीपति देश को शोषण करने के लिए उपनिवेश चाहिएँ। इसके लिए, वे अन्दर ही-अन्दर लड़ने के लिए सदा तैयार रहते हैं। एक देश सेना बढ़ाये तो दूसरे को भी बढ़ानी ही पड़ती है। यह चढ़ा-ऊपरी कहाँ जाकर रुकेगी, यह नहीं कहा जा सकता। जापान चीन पर क़ब्ज़ा करने की ताक में रहे और इटली अबीसीनिया को हड़प जाने का जाल रचे, यह सब तो चलता ही रहता है। इससे सारी दुनिया में युद्ध का दावानल चाहे जब सुलग उठने का भय है।

इस सब दुःख और त्रास से संसार तभी बच सकता है जब सारी समाज-रचना बिलकुल ही नये आधार पर हो। आज उसकी दो योजनायें अथवा कार्यक्रम संसार के सामने हैं। एक रूस में समाजवादियों की और दूसरी हमारे देश में गाँधीजी की। सरकार के पास जितनी सत्ता और साधन हो सकते हैं उन सबके ज़ोर पर आज रूस में यह कार्यक्रम चल

रहा है, इसलिए सारी दुनिया का ध्यान उसकी तरफ आकर्षित हुआ है। हमारे देश में सरकार की सत्ता और साधन जितना विघ्न डाल सकें उस विघ्न के बावजूद इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का प्रयत्न हो रहा है, इसलिए ध्यान आकर्षित करने जैसे परिणाम आज हम नहीं बतला सकते। फिर भी इस कार्यक्रम की सम्भावनाओं को देख सकनेवाले विचारशील लोगों का ध्यान तो इसकी तरफ आकर्षित हुआ ही है। इन दोनों कार्य-क्रमों का तुलनात्मक विवेचन ही हमारा उद्देश्य है।

समाजवाद और सर्वोदय ये दोनों ही कार्यक्रम अंतिम ध्येय के बारे में बहुत-कुछ मिलते हुए हैं। दोनों ही कार्यक्रम मनुष्य-जाति की मुक्ति और सुख-संतोष चाहते हैं। आज दुनिया में जो सामाजिक एवं आर्थिक विषमता दृष्टिगोचर होती है, जो अन्याय और ज़ुल्म नज़र आता है, दोनों ही कार्यक्रम उसका अन्त करना चाहते हैं ? दोनों ही कार्यक्रम यह कहते हैं कि हरेक स्त्री-पुरुष को निष्ठापूर्वक अपना-अपना काम करना चाहिए। जो काम न करे उसे खाने का अधिकार न हो और जो अपनी शक्ति के अनुसार काम करने को तैयार हो उसे कम-से-कम इतना तो मिलना ही चाहिए जिससे वह ठीक तरह अपना जीवन-निर्वाह कर सके, यह दोनों ही कार्यक्रम चाहते हैं।

समाज में से ऊँच-नीच का भेदभाव मिटे, अपनी प्रगति और विकास करने में किसी भी तरह की रुकावट न हो, सबको आगे बढ़ने के निर्विघ्न अवसर मिलें और सबको समान अवकाश हो, यह दोनों कार्यक्रमों का ध्येय है। यहाँ-वहाँ किये जानेवाले नाममात्र के सुधारों से इनमें के एक भी कार्यक्रम को संतोष नहीं होगा। क्योंकि दोनों ही कार्यक्रम क्रान्तिकारी हैं; प्रचलित रूढ़ियों, विचारों तथा स्थापनाओं का मूल से ही संशोधन करके समाज की नई रचना करने का दोनों कार्यक्रम प्रयत्न कर रहे हैं। करोड़ों दलित और पीड़ित लोगों की सैकड़ों वर्षों से दबी हुई अभिलाषाओं और आकांक्षाओं को दोनों कार्यक्रमों ने प्रकट किया है। इससे सर्वसाधारण को अपनी शक्ति का पता लगा है; वे उसे महसूस करने लगे हैं और

उनका आत्म-विश्वास बढ़ा है। इन दोनों कार्यक्रमों के नेता गाँधीजी, लेनिन, ट्राटस्की तथा स्टालिन अत्यन्त उद्यमी और सादा जीवन व्यतीत करनेवाले हैं। उन्होंने सर्वसाधारण के साथ तादात्म्य करके उनका प्रेम और विश्वास प्राप्त कर लिया है। इसलिए आज इन दोनों कार्यक्रमों में इतना ज़ोर दिखलाई देता है और लोग इनकी तरफ़ आशा की टकटकी लगा रहे हैं।

लेकिन साधनों के बारे में इन दोनों कार्यक्रमों में बहुत बड़ा अन्तर है, जिसके कारण तफ़सील में तथा नवीन समाज-रचना की कल्पना में भी दोनों कार्यक्रमों में बड़ा भेद होजाता है।

नवीन समाज-रचना के लिए समाजवाद हिंसात्मक क्रान्ति को अनिवार्य मानता है। वर्तमान सरकारों के समस्त तंत्र का सूत्र-संचालन पूंजीपति-वर्ग के हाथों में है। और इस पूंजीपति-वर्ग के हित का संरक्षण करने के लिए हरेक सरकार की सेना कटिबद्ध है। उसके सामने नवीन समाज-रचना अमल में ऐसे प्रयत्नों से आ ही नहीं सकती जिन्हें कि वैधानिक कहा जाता है। मौजूदा सरकार के सैनिक बल का सामना किये बग़ैर कोई भी क्रान्तिकारी पक्ष राजसत्ता पर अधिकार नहीं कर सकता, और सत्ता प्राप्त किये बाद भी अगर राजतंत्र का पुराना स्वरूप क़ायम रहे—यानी इस समय कहे जानेवाले प्रजातन्त्रों में जैसा होता है—उस तरह पार्लमैण्ट का नया चुनाव हो और नये चुने हुए सदस्यों के द्वारा राज्य का कारोबार चलाया जाय—तो कोई भी क्रान्ति नहीं की जा सकती। क्योंकि जबतक सारा समाज क्रान्ति के सिद्धान्तों को न समझने लगे तब तक चुनाव में क्रान्तिकारियों की बनिस्बत पूंजीपति और ऊपरी सुधारक ही सफल होंगे। इसलिए अगर क्रान्ति करके नवीन समाजवादी समाज-रचना करनी हो तो पुराने राजतंत्र को जड़मूल से उखाड़कर समाजवादी सिद्धान्त से ओतप्रोत संगठित पक्ष को सारी राजसत्ता हस्तगत करनी चाहिए। सार्वजनिक मताधिकार, देश के समस्त मतदाताओं के द्वारा पार्लमेण्ट के सदस्यों का निर्वाचन, जिसे प्रत्यक्ष चुनाव (Direct

election) कहा जाता है, ये सब इस नामधारी प्रजातंत्र के करिश्मे हैं। इनके मोह में न आकर समाजवादी पक्ष का अधिनायकत्व चलाया जाय तभी क्रान्ति क़ायम रह और सफल हो सकती है। इस तरह के राजतंत्र को वे श्रमजीवी-वर्ग का अधिनायकत्व (Dictatorship of the Proletariat) कहते हैं। श्रमजीवी वर्ग में उन्हीं की गिनती होती है जो समाजवादी हों और राजनैतिक सत्ता उन्हीं के हाथ में होनी चाहिए। श्रमजीवी होने पर भी जो निजी स्वामित्व में विश्वास रखते हों और भविष्य में खुद श्रम किये बग़ैर दूसरे के श्रम पर जीने की आशा रक्खें, वे श्रमजीवी-वर्ग के (प्रोलेटेरियट) नहीं कहला सकते। पूंजीपति अथवा भद्रलोक वर्ग के होने पर भी जिनके विचार बदल गये हों, जो समाजवादी हो जायें और उसी आदर्श के अनुसार जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार हों, उन्हें श्रमजीवी-वर्ग के यानी 'प्रोलेटेरियट' कहा जाता है। नये समाजवादी समाज में सभी 'प्रोलेटेरियट' ही होने चाहिएं। शारीरिक श्रम किये बग़ैर पूंजी के व्याज पर, ज़मीन के भाड़े पर, अथवा अन्य किसी तरकीब से दूसरे के श्रम का लाभ उठाकर जीवन-यापन करने वाला वर्ग 'बुर्ज्वा' है। हम उस वर्ग के लिए भद्रलोक शब्द काम में लायेंगे। समाजवादियों की मान्यता के अनुसार आज सारे जन-समाज में दो वर्ग होगये हैं; एक निजी स्वामित्व तथा व्यक्तिगत स्वामित्व के हक़ अथवा उसमें विश्वास रखने और उसके ज़ोर पर दूसरों के श्रम का लाभ उठाने अथवा उठाने में विश्वास रखनेवाला पूंजीवादी अथवा भद्रलोक (बुर्ज्वा) वर्ग; और दूसरा निजी स्वामित्व तथा व्यक्तिगत स्वामित्व के हक़ न रखने में और इस बात में विश्वास रखनेवाला श्रमजीवी-वर्ग (प्रोलेटेरियट) कि हरेक स्त्री-पुरुष को किसी-न-किसी प्रकार का समाजापयोगी श्रम अपनी शक्ति के अनुसार ज़रूर करना चाहिए। भद्र-वर्ग के लोग आज अपनी-अपनी शक्ति और गुंजाइश के मुताबिक़ श्रमजीवी-वर्ग का शोषण कर रहे हैं; इसलिए इन दो वर्गों को शोषक और शोषित नाम भी दिये जा सकते हैं। दोनों वर्गों के स्वार्थ परस्पर-विरुद्ध होने के

कारण, इन दोनों वर्गों में जाने-अनजाने हमेशा संघर्ष होता ही रहता है। श्रमजीवी-वर्ग को अपनी स्थिति का यथोचित भान करना, उसमें अपने वर्ग का अभिमान (class-consciousness) पैदा करना और भद्र-वर्ग के मुक़ाबिले के लिए उसे संगठित करना—यह समाजवादियों का एक कार्यक्रम है। इसे वे वर्गयुद्ध (class-war) कहते हैं। इस तरह समाज में आज जो अनेक वर्ग दिखलाई पड़ते हैं, उन सबका आधार केवल धन ही नहीं होता। विद्या तथा संस्कारिता, कुल, जाति, सत्ता आदि अनेक कारणों से वर्ग बनते हैं। लेकिन समाजवादी ऐसा मानते हैं कि इन सबके पीछे असली कारण आर्थिक ही होता है। इस-लिए जो प्रोलेटेरियट न हो जायें उन सबके विरुद्ध युद्ध-घोषणा करके उनको नष्ट ही कर देना चाहिए। बस, एक 'प्रोलेटेरियट' वर्ग ही संसार में रहे। समाज की अन्तिम स्थिति की उनकी कल्पना यह है कि उसमें समस्त जन-समाज वर्ग-हीन (class-less) होजाय। इस वर्ग-युद्ध में वे हिंसा को अनिवार्य मानते हैं। प्रचलित सरकार को उखाड़ कर राजसत्ता अपने हस्तगत करना, यह इस कार्य की शुरूआत है। फिर इस सत्ता के ज़ोर पर पूंजीवादी अथवा भद्रवर्ग के निकन्दन का काम होता है। इसमें प्रेम, दया आदि भद्र-समाज में पोषित कोमल भावनाओं से प्रेरित होना निर्बलता है। समाजवादी कहते हैं कि हम हिंसा के उपासक नहीं हैं, जहां हिंसा के बग़ैर काम चलता हो वहां हम हिंसा हर्गिज़ नहीं करेंगे। फिर आज पूंजीवादी समाज में जो प्रत्यक्ष और परोक्ष हिंसा जारी है उसकी बनिस्बत तो हमारी हिंसा एक ही बार की और परिणाम में कम ही है। पूंजीवाद का नाश होने के बाद ज़ोर-ज़बरदस्ती की ज़रूरत नहीं रहेगी, इसलिए हिंसा अपने आप मिट जायगी।

सर्वोदय के यानी गांधीजी के कार्यक्रम में सारा दारोमदार अहिंसा पर है। उच्च और शुद्ध साध्य की सिद्धि उतने ही उच्च, शुद्ध और निर्दोष साधन बग़ैर सम्भव नहीं है। ज़ोर-ज़बरदस्ती और ज़ुल्म-ज्यादती करके शान्ति और न्याय की आशा रखना व्यर्थ है। हिंसा द्वारा प्राप्त

किया हुआ हिंसा-द्वारा ही क़ायम रह सकता है। राजसत्ता क्रान्तिकारियों के हाथ में आये बाद भी मशीनगनें, वायुयानों आदि फ़ौजी सरंजाम और फ़ौज का क़ब्ज़ा तो अमुक थोड़े आदमियों के ही हाथ में रहेगा। सारा जनसमाज कभी फ़ौज पर क़ब्जा नहीं रख सकता, और न उसके मुक़ाबिले हिंसा का प्रयोग ही कर सकता है। इसलिए जनता के ऊपर फ़ौज और पुलिस की सत्ता तो जारी ही रहेगी। रूस के समाजवादी चाहे श्रमजीवी-वर्ग के हित की दृष्टि से ही सारा काम कर रहे हों, पर उनका काम फ़ौज और पुलिस के ज़ोर पर चल रहा है। फ़ौज और पुलिस के बल से ही वे समाज पर अपना क़ब्जा रख रहे हैं। रूस तथा अन्य देशों में आज उनकी प्रवृत्ति भय और द्वेष ही फैला रही है। समाजवादी कहते तो यह हैं कि हम पूंजीवाद का नाश करने जितना ही हिंसा का प्रयोग करेंगे, लेकिन आम वर्ग की मुक्ति उनका ध्येय हो तो यह दलील किसी काम की नहीं है। क्योंकि आज आपत्ति पूंजीवाद के रूप में है तो कल दूसरे किसी रूप में आ खड़ी होगी। जो छोटा-सा समाजवाही मण्डल आज सत्ता हस्तगत करके बैठा हुआ है उसके हृदय में कलियुग का प्रवेश हो और वह सत्ता छोड़े ही नहीं, तो लोग उसका क्या कर सकते हैं? पुरानी नौकरशाही की जगह इस नई नौकरशाही के नीचे भी जनता को तो पिसना ही होगा। क्योंकि ज़ोर-ज़बरदस्ती के आधार पर निर्मित तंत्र के आधीन रहनेवाली जनता सच्ची स्वतंत्रता का अनुभव कभी नहीं कर सकती।

गाँधीजी के कार्यक्रम की श्रेष्ठता यह है कि सरकार चाहे स्वदेशी हो या विदेशी, समाजवादी हो या पूँजीवादी, उसमें उसे सर्वोपरि कभी नहीं माना जाता है। सरकार आख़िर मनुष्य की ही पैदा की हुई है, इसलिए उसका बनाया हुआ कोई क़ानून जब अन्यायपूर्ण मालूम पड़े तब उसका सविनय भंग करने का हरेक आदमी को हक़ ही नहीं है, बल्कि ऐसा करना उसका फ़र्ज़ है। किसी भी प्रकार के अधर्म या अन्याय का अहिंसक प्रतिकार करने की रीति जनता को सिखलाकर स्वातन्त्र्य-सिद्धि का एक

उत्तम मार्ग उन्होंने जगत को बतलाया है। आज जो देश स्वतन्त्र कहलाते हैं, उन देशों में सारी जनता कोई स्वतन्त्र नहीं है। परन्तु गाँधीजी का यह शस्त्र ऐसा है कि इसका उपयोग बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, शिक्षित-अशिक्षित, कोई भी करके अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकते हैं। मनुष्य की धर्मबुद्धि (Conscience) की स्वतन्त्रता को गाँधीजी अमूल्य वस्तु मानते हैं और किसी भी आर्थिक लाभ की खातिर उसको छोड़ने से वह इन्कार करते हैं। गाँधीजी सरकार की सत्ता अमुक हद तक ही स्वीकार करने को तैयार हैं; जहाँ धर्म या सिद्धान्त का प्रश्न आवे वहाँ वे ज़रा भी झुकने को तैयार नहीं हैं। सब तरह के भय-प्रलोभन, ज़ोर-ज़बरदस्ती, शरीरबल या हिंसा का वह सब तरह से बिलकुल निषेध करते हैं।

समाजवादियों को मनुष्य-स्वभाव या उसकी धर्मबुद्धि पर विश्वास नहीं है। धनिक और मालिक में धर्मबुद्धि हो ही नहीं सकती और न प्रकट ही होगी, यह उन्होंने मान लिया है। धर्म जैसी किसी चीज़ को ही वे स्वीकार नहीं करते। उसे तो वे एक नशा समझते हैं। इसीलिए सैनिक बल वाली बाह्य सत्ता की सर्वोपरिता का वे आग्रह रखते हैं।

गाँधीजी मनुष्य-स्वभाव पर विश्वास रखते हैं। संयोगवश आज उसमें विकृति चाहे आ गई हो, लेकिन अगर लोगों को पूरी तरह शिक्षा दी जाय तो समाज में परस्पर विश्वास और प्रेम की स्थापना होने में देर न लगे और हिंसा अथवा सरकार की ज़ोर-ज़बरदस्ती के बग़ैर सब सुधार समाज में किये जा सकते हैं। आज तो अन्य सरकारों की भांति रूस की समाजवादी सरकार भय और दबाव से ही सुधार करा रही है। सत्ता के ज़ोर पर सुधारों का अमल जल्दी होता हुआ दिखलाई पड़ता है, परन्तु सत्ता के बल पर जनता के हृदय में उसका प्रवेश नहीं हो सकता और इसलिए, वह चिरस्थायी नहीं होता। बहुत बार ऐसा होता है कि इस तरह की ज़ोर-ज़बरदस्ती से कराये हुए सुधार दूसरी पीढ़ी संतोषपूर्वक स्वीकार कर लेती है। मगर मूल की जोर-ज़बरदस्ती का असर तो नहीं ही मिटता। ज़ोर-जबरदस्ती की दूसरी और नई लहर आते ही सारी इमारत फिर से ढह जाती

है। अन्य देशों की प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृतियाँ तुलनात्मक रूप में थोड़े-थोड़े समय चमककर मिट गईं, पर हिन्दुस्तान और चीन की प्राचीन संस्कृतियाँ तत्त्वतः अपने मूलस्वरूप में अभी भी क़ायम हैं। ऐसा क्यों है, यह सोचने की बात है। बात यह है कि हिन्दुस्तान और चीन ने दूसरे देशों की तरह सैनिक दिग्विजय नहीं की, बल्कि उनके ऊपर अनेक सैनिक आक्रमण हुए हैं। हमारा देश तो अनेक वर्षों से राजनैतिक पराधीनता में भी ग्रस्त है तथापि हमारे ऊपर आक्रमण करनेवाले देशों की संस्कृति के नाम शेष होजाने पर भी हमारी संस्कृति क़ायम है। क्योंकि हमारे यहाँ उसका निर्माण शरीरबल पर नहीं बल्कि आत्मबल पर हुआ है।

साधनों के भेद की वजह से दोनों कार्यक्रमों में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह हो जाता है कि जबतक राजसत्ता हाथ में न आवे तबतक समाजवादी कार्यक्रम का अमल बिल्कुल ही नहीं हो सकता। वे जो आर्थिक फेर-बदल करना चाहते हैं उसकी शुरूआत भी राजसत्ता के बगैर नहीं होसकती। रूस में राजसत्ता हस्तगत करने का अनुकूल अवसर मिल गया, यह दूसरी बात है, पर अन्य देशों में तो आज समाजवादियों को मारे-मारे ही फिरना पड़ रहा है। क्योंकि अपनेको उलट देनेवाले किसी भी कार्यक्रम को—फिर वह हिंसात्मक हो या अहिंसात्मक—कोई सरकार नहीं चलने देना चाहेगी। अहिंसात्मक कार्यक्रम की ही यह खूबी है कि चाहे जितनी प्रबल सरकार भी उसे रोक नहीं सकती। तब पिछली लड़ाई में हम क्यों नहीं जीते, यह प्रश्न पाठकों को ज़रूर होगा। लेकिन हमारी यह लड़ाई सत्य और शुद्ध अहिंसा के आधार पर न रह सकी, यही उसकी निष्फलता की सबसे बड़ी वजह है। मगर अभी भी हम अपना रचनात्मक कार्य करके जनता की शक्ति बढ़ा सकते हैं। इसके विरुद्ध समाजवादी कार्यक्रम में तो जनता जितनी ज्यादा कुचली जायगी, उसका जितना अधिक शोषण होगा, और उसे जितना अधिक सताया जायगा, उतनी ही वह अधिक व्याकुल होगी, अन्त में सामना करेगी, ऐसी नियति के ऊपर आधार रखकर बैठना पड़ता है। सत्ता हाथ में आवे तबतक खाली बातें, स्पीचें और योजनायें ही करने

को रहती हैं। जिसे 'आर्गेनाइज़' (संगठित) करना कहा जाता है, उसके सिवा दूसरा कोई कार्यक्रम होता ही नहीं। 'आर्गेनाइज़' करने में उभाड़ने के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। और वह भी ऐसे गुप्त रूपमें अथवा अन्य किसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत करना पड़ता है कि मूल प्रवृत्ति बहुत बार विस्मृत हो जाती है और गुप्त रहना ही मुख्य प्रवृत्ति बन जाता है।

गाँधीजी के कार्यक्रम में राजसत्ता हस्तगत करने से पहले भी सामाजिक और आर्थिक रचनात्मक कार्य-किया जा सकता है। लोग अपने ही पुरुषार्थ तथा स्वावलम्बन से बहुत-कुछ कर सकते हैं। कोई कुटुम्ब अथवा गाँव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति जितना स्वावलम्बी होजाय तो वर्तमान पूँजीवादी उद्योग-व्यवसाय के द्वारा चलनेवाले शोषण में से बहुत-कुछ तो बच ही सकता है। गाँधीजी के खादी तथा ग्राम-उद्योग के कार्यक्रम में यही बात है। मार्क्स का कहना है कि राजनैतिक स्वतंत्रता बहुत कुछ आर्थिक स्वतंत्रता पर ही निर्भर है। आर्थिक स्वतन्त्रता से ही राजनैतिक स्वतंत्रता का उदय होता है। यह देखते हुए तो राजसत्ता हस्तगत करने के लिए केवल शरीरबल पर आधार रखने के बदले, उद्यम और स्वावलम्बन द्वारा जनता की आर्थिक और नैतिक शक्ति बढ़ाने का गाँधीजी का कार्यक्रम अधिक महत्वपूर्ण है। उनके कार्यक्रम में मनुष्य को अपनी स्थिति का भान होते ही वह उसे सुधारने के लिए स्वयं प्रत्यक्ष कार्य करने में प्रवृत्त हो सकता है, और ऐसा करते हुए वह अपनी शक्ति बढ़ाता जाता है। बालक-वृद्ध, पुरुष-स्त्री, अमीर-ग़रीब, शहरी या ग्रामीण, शिक्षित-अशिक्षित, हरेक कुछ-न-कुछ कर सकता है। जनता अपनी शक्ति जितनी बढ़ाती जाय उतने स्वराज्य का उपभोग करती जाती है। फिर जब राजनैतिक स्वराज्य स्थापित हो तब भी, इस रचनात्मक प्रवृत्ति से प्राप्त शिक्षा के कारण, अपने प्रतिनिधियों के ऊपर उचित अंकुश रखने की शक्ति जनता में आगई होती है।

समाजवादियों का दावा ऐसा है, अथवा वे ऐसा ध्येय रखते हैं, कि

समाज का सारा तंत्र भौगोलिक आधार पर अथवा धन्धों के आधार पर छोटे-छोटे स्वसत्ताक (खुदमुख्तार) मण्डलों के, जिन्हें कि रूस में 'सोवियट' कहते हैं, द्वारा संचालित हो । परन्तु इस ध्येय की सिद्धि के लिए साधन-रूप तो अत्यधिक केन्द्रीभूत सत्तावाला और मनुष्य-जीवन के प्रत्येक अंग पर अंकुश रखनेवाला एक ज़बरदस्त मध्यवर्त्ती (केन्द्रीय) तन्त्र उन्होंने खड़ा किया है । आज रूस में हरेक आदमी को क्या करना, क्या खाना, बच्चों को कैसी शिक्षा देनी, स्वयं कैसे विचार बनाने चाहिएँ, इस सबकी व्यवस्था का काम सोवियट सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है । प्रेसों, पुस्तकों और संस्थाओं पर रूस में सरकार का जितना अंकुश है उतना अन्य किसी देश में शायद ही होगा । समाजवादी उपदेशकों और प्रचारकों के सिवा अन्य कोई उपदेशक या प्रचारक वहाँ अपना काम नहीं कर सकते । ऐसी परिस्थिति में क्या छोटे-छोटे मण्डल (खुदमुख्तार) रह सकते हैं ? हम साध्य चाहे जो तय करें, परन्तु उसका निर्माण तो स्वीकृत साधनों को अमल में लाकर ही होता है । ज़बरदस्त मध्यवर्ती समाजवादी तन्त्र में से छोटे खुदमुख्तार ग्राममण्डलों का अस्तित्व में आना दूसरी क्रान्ति हुए बग़ैर सम्भव नहीं मालूम पड़ता ।

गाँधीजी के कार्यक्रम में थोड़े-बहुत अंश में खुदमुख्तार ग्राममण्डलों पर पहले ही ज़िम्मेदारी का भार रक्खा जाता है । राजनैतिक प्रवृत्ति में पड़ने से पहले भी ये ग्राममण्डल बहुत-सी बातों में स्वावलम्बी और इसलिए स्वतंत्र होसकते हैं । यह बात हम लोगों की जन्मघुट्टी में ही मिली हुई है । हमारे देश में जनता की प्राणशक्ति, विलायत में जिसे 'स्टेट' कहते हैं और अपने देश की आज की भाषा में जिसे 'सरकार' कहा जाता है, उसमें कभी नहीं रही । राजनैतिक दृष्टि से हम अनेक वर्षों से पराधीन हैं, और हमारे यहाँ अनेक सरकारें आई-गई हैं, मगर हमारी जनता ने अपनी सामाजिक स्वतंत्रता बनाये रक्खी । इस अंग्रेज सरकार ने ही हमारी इस प्राणशक्ति, हमारी उस स्वतंत्रता पर प्रहार किया है । जनता की इस नष्ट की हुई प्राणशक्ति में नवजीवन का संचार करके गाँधीजी जनता की सच्ची स्वतंत्रता सिद्ध करना चाहते हैं ।

अपनी ज़रूरत की सारी चीज़ों का उत्पादन यथासम्भव कल-कारखानों के द्वारा करना समाजवादी कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण अंग है। वर्तमान पूँजीवाद में एक छोटे वर्ग ने उत्पत्ति के साधनों पर अधिकार किया हुआ है और वह वर्ग समाज की उपयोगी वस्तुओं की आवश्यकतापूर्त्ति के उद्देश से नहीं बल्कि मुनाफ़े की दृष्टि से अपने कारखाने चलाता है। यंत्रों की ज्यों-ज्यों नई खोजें होती जाती हैं त्यों-त्यों बेकारी बढ़ती जाती है। फिर ये सब यंत्र जिसके क़ब्ज़े में हैं वह उनपर अपने अधिकार के ज़ोर पर ग़रीबों का शोषण करता है, जिससे ग़रीबी और भुखमरी भी बढ़ती जाती है। समाजवादियों का कहना यह है कि ये यन्त्र और कारखाने स्वयं कोई खराब चीज़ नहीं हैं। इनके दुरुपयोग, इनके स्वामित्व द्वारा होनेवाले आम लोगों के शोषण, मौजूदा ग़रीबी, बेकारी तथा भुखमरी की तो वजह है। उत्पत्ति के समस्त साधनों पर यदि सारे समाज का स्वामित्व कर दिया जाय, तो उसमें मुनाफ़े की बात न रहकर समाज की आवश्यकताएं पूरी करने की ही बात रहे। फिर समस्त उत्पादन नियन्त्रित हो सकता है, यानी समाज की आवश्यकतानुसार ही चीज़ें तैयार की जायें। इस समय निजी उत्पादकों में जो प्रतिस्पर्धा होती है वह प्रतिस्पर्धा फिर रहे ही नहीं। फिर समाज में हरेक को उसकी शक्ति के अनुसार काम देने तथा उसकी आवश्यकतानुसार उसे मिलने की व्यवस्था भी समाज की तरफ़ से ही हो। इसलिए बेकारी तो फिर हो ही नहीं। क्योंकि जो काम करने को तैयार हों उन्हें खाने को तो मिलेहीगा। फिर यन्त्रों और भाप तथा बिजली जैसी भौतिक शक्तियों द्वारा काम लेने की वजह से मनुष्य-जाति पर से श्रम का एक बड़ा बोझ उतर जाता है, और उत्पादन तेज़ी से होने के कारण लोगों को कम घण्टे काम करना पड़ता हैं। इससे हरेक को खूब फ़ुर्सत मिलती है, जिसका उपयोग वह अपनी संस्कारिता बढ़ाने में तथा आमोद-प्रमोद के कामों में कर सकता है। इस कार्यक्रम के अनुसार सारे रूस को कारखानेमय कर डालने की—खेती तक यन्त्रों से करने की—जबरदस्त प्रवृत्ति इस समय जारी है, जिसके फलस्वरूप एक बिलकुल नई संस्कृति का निर्माण हो रहा है।

गाँधीजी यन्त्र के दुश्मन तो हर्गिज़ नहीं हैं। उनका विरोध यन्त्रों से नहीं बल्कि यन्त्रों के लिए दीवाने होने से है। वैज्ञानिक और यांत्रिक संशोधन निजी लाभ और नफ़े के साधन न होने चाहिएँ। श्रम का बचाव अमुक वर्ग के लिए नहीं बल्कि सारी मानव-जाति के लिए होना चाहिए, इस बारे में समाजवादियों और उनके विचार मिलते हुए हैं। परन्तु गाँधीजी ऐसे यन्त्रों को सीमित करना चाहते हैं जो अत्यन्त ख़र्चीले हों और बड़े पैमाने पर ही चल सकें। उनका कहना है कि यन्त्र का विचार वक्त उत्पादन का नहीं बल्कि मनुष्य का विचार प्रधान होना चाहिए। जिन यन्त्रों के कारण, उपयोग में न आने की वजह से, मनुष्य के अंग निकम्मे हो जायँ, उन यन्त्रों के वह विरुद्ध हैं। जो यन्त्र मनुष्य तथा उसके द्वारा श्रम के लिए पाले जानेवाले पशुओं को निकम्मा और उसके फलस्वरूप निर्वाह के साधनों से रहित बना देनेवाले हों, उन्हें वह अनिष्ट मानते हैं। परन्तु जो यन्त्र मनुष्य और उसके पाले हुए पशुओं के श्रम को हलका करने की दृष्टि से अथवा उनका समय बचाने की दृष्टि से ही बने, उन्हें वह आमतौर पर इष्ट मानते हैं। ऐसे यन्त्र बनाने के लिए बड़े कारखानों की ज़रूरत हो तो वे रहें, पर उन पर स्वामित्व सारे समाज का होना चाहिए। यन्त्रों के बारे में इसे गाँधीजी के विचारों का सार कहा जा सकता है। परन्तु असली बात तो यह है कि हमारे देश की मौजूदा हालत में देश को यन्त्रमय और कारख़ानेमय कर डालने का प्रश्न व्यावहारिक ही नहीं है। अभी तो ऐसी परिस्थिति है कि अपने देश में जितने यन्त्रों का प्रवेश करेंगे उतने ही अधिक शोषित और पराधीन बनेंगे। फिर रूस में ज़बरदस्ती कल-कारख़ाने दाख़िल करने की जैसी प्रवृत्ति चल रही है वैसी प्रवृत्ति तो, हमारे पास सत्ता हो तो भी, गाँधीजी की कार्य-प्रद्धति और सर्वोदय के सिद्धान्तों की दृष्टि से अनिष्ट ही है। गाँधीजी तो यही कहते हैं कि खेती और दूसरे उद्योग-धन्धों में जहाँतक मनुष्य के हाथ-पैरों का उपयोग हो सकता हो वहाँतक यन्त्रों से काम न लिया जाय। अनिवार्य अर्धबेकारी हमारे देश की सबसे विकट समस्या है। यन्त्रों के आक्रमण से

मनुष्य के साथ उसके पाले हुए पशु भी बेकार होने लगे हैं । इसलिए जबतक अपार मानव-शक्ति और पशु-शक्ति हमारे देश में निकम्मी पड़ी रहेगी, तबतक भौतिक शक्ति का प्रवेश कर यन्त्र जारी करने का विचार हमारे लिए बेहूदा है । इसके अलावा यह बात तो हुई कि मनुष्य शारीरिक श्रम करे तो उससे उसकी कलाकुशलता बढ़ती है, बौद्धिक विकास विशेष होता है और काम में से आनन्द और सन्तोष अधिक मिलता है। इसलिए सीमित क्षेत्र में यन्त्रों को स्वीकार करके गाँधीजी का झुकाव तो छोटे-छोटे गृह-उद्योगों और ग्राम-उद्योगों की ओर ही है । विज्ञान और यन्त्रविद्या में आज जो प्रगति हुई है उसका अपने गृह-उद्योगों तथा ग्राम-उद्योगों के साधनों का संशोधन करने में जितना उपयोग किया जा सके उतना तो करना ही चाहिए ।

पुराने अर्थशास्त्रियों की तरह समाजवादी भी यह मानते हैं कि आवश्यकतायें और सुख-सुविधा के साधन बढ़ाते जाना संस्कृति की एक निशानी है । इस संबन्ध में समाजवादियों की विशेषता यह है कि वे ऐसी अर्थ-व्यवस्था करना चाहते हैं जिससे मनुष्य-मात्र को ये साधन उपलब्ध हों । परन्तु लोगों का ध्येय अपनी सुख-सुविधायें बढ़ाते जाना ही रक्खा जाय, तो यह निश्चित करना बहुत मुश्किल है कि उसका अन्त कहाँ होगा और सन्तोष या तृप्ति कहाँ जाकर होगी । फिर मानव-पुरुषार्थ का अन्तिम ध्येय कोई सांसारिक सुख-सुविधायें ही नहीं हैं ।

सर्वोदय का कार्यक्रम यन्त्रों की तरह आवश्यकताओं की भी मर्यादा रखने के लिए कहता है । जीवन कष्टमय न होना चाहिए और उसके लिए अमुक सीमा तक आवश्यकतायें बढ़ानी ही चाहिएँ । उदाहरण के लिए, इस समय हमारे देश में रहन-सहन का जो ढंग है वह तो ऊँचा होना ही चाहिए । लेकिन आवश्यकताओं को अमर्याद रूप से बढ़ाते ही चले जाओ और उसके लिए उत्पादन के पीछे लगे रहो यह बात गाँधीजी को पसन्द नहीं है । हम अपने जीवन को यथासम्भव सादा—पर सादे का मतलब कष्टपूर्ण नहीं है—बना लें तो इस समय के बहुत-से अनिष्टों से

सहज ही बचा जा सकता है। गाँधीजी के स्वदेशी धर्म का विवरण देने की यहाँ कोई ज़रूरत नहीं है। आयात-निर्यात के व्यापार की इस समय जो बहुत अनावश्यक और निरर्थक वृद्धि हुई है, तथा जिस व्यापार ने विभिन्न देशों के बीच लड़ाई का स्वरूप धारण कर लिया है, वह व्यापार—यानी झगड़े का बड़ा कारण—इस धर्म के पालन से अपने आप मिट जायगा।

अब हम निजी स्वामित्व पर विचार करें। ज़मीन, खान, जंगल, कारखाने जैसे उत्पत्ति के जो मुख्य साधन हैं उन्हें इस समय समाजवादी सामाजिक स्वामित्व के कर ही रहे हैं। लेकिन उसके अलावा निजी स्वामित्व के जो हक़ हैं उन्हें भी वे नष्ट करना चाहते हैं। क्योंकि निजी स्वामित्व के ज़ोर पर ही मनुष्य दूसरों पर सत्ता चला सकते और दूसरों के श्रम का अनुचित लाभ उठा सकते हैं। मनुष्य के पास बहुत-सी सम्पत्ति हो तो अपने उपयोग जितनी रखकर बाकी पर से उसे अपने स्वामित्व का अधिकार छोड़ देना चाहिए। मनुष्य के पास बहुतसे मकान हों तो अपने उपयोग लायक ही वह रख सकता है। दूसरों को भाड़े पर वह मकान नहीं उठा सकता। उनपर अपना अधिकार भी उसे छोड़ देना चाहिए। फिर अपने उपयोग के लिए रक्खे उसपर भी उपयोग जितना ही उसका अधिकार हो सकता है। वह अपनी जीवितावस्था में उसे बख्शीस में या मरने के बाद विरासत में किसीको नहीं दे सकता। यह राजसत्ता के द्वारा किया जाना चाहिए।

गाँधीजी निजी स्वामित्व के हक़ को नष्ट करने के लिए नहीं कहते, लेकिन उसके ऊपर अंकुश ज़रूर लगाना चाहते हैं। अपने पास जो सम्पत्ति हो उसका स्वामी समाज की ओर से उसका ट्रस्टी हो, ऐसा वह कहते हैं। इसलिए स्वामित्व के हक़ के साथ उसके ऊपर स्वामित्व की ज़िम्मेदारी भी आती है। तत्त्वतः इन दोनों कार्यक्रमों में अन्तर इतना ही रहता है कि समाजवादी जिस सम्पत्ति को समाज के स्वामित्व की बनायें उसका प्रबन्धकर्त्ता सरकार की ओर से नियुक्त होता है, जबकि गाँधीजी के कार्यक्रम में समाज के हित की दृष्टि से सम्पत्ति का उपयोग करने के

लिए उसका मालिक स्वयं ही अपनेको ट्रस्टी अथवा प्रबन्धकर्त्ता बना लेता है। समाजवादी कार्यक्रम में सरकार इस बात को देखती है कि प्रबन्धकर्त्ता अपना कर्त्तव्य पूरी तरह पालन करता है या नहीं; जबकि गाँधीजी के कार्यक्रम में मालिक या ट्रस्टी अगर पूरी तरह अपने कर्त्तव्य का पालन न करे तो समाज को उसके विरुद्ध सत्याग्रह करना पड़ता है। गाँधीजी के कार्यक्रम में सत्ता लोगों के पास रहती है और अपनी शक्ति के अनुसार वे उसका अमल कर सकते हैं। समाजवादी कार्यक्रम में सत्ता लोगों के प्रतिनिधि होने का दावा करनेवाली सरकार के हाथ में रहती है।

एक दूसरी दृष्टि से देखिए तो गाँधीजी का कार्यक्रम समाजवादी कार्यक्रम की अपेक्षा श्रेष्ठ लगता है। उत्पत्ति के समस्त साधनों पर समाज का स्वामित्व होजाय, यानी उनकी व्यवस्था निर्वाचित मण्डलों या मनुष्यों के द्वारा हो, तो दूसरे सब लोगों को तो अपनेको सौंपा जानेवाला काम अथवा श्रम उनकी सूचना के अनुसार करना ही रह जाता है। फ़र्ज़ कीजिए कि समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार किसी गाँव की सारी खेती का विभाजन होगया है। उस खेती की व्यवस्था सारा गाँव इकट्ठा मिलकर तो कर नहीं सकता, इसलिए उन्हें उसके लिए कोई मण्डल नियुक्त करना पड़ेगा। ज़मीन कब जोती जाय, उसमें कितना खाद काफ़ी होगा, उसमें क्या-क्या चीज़ बोई जाय और कब-कब उसकी निदाई-बुआई वग़ैरा की जाय, यह सब वह मण्डल ही तय करेगा। अगर सिंचाई करनी हो तो वह भी कब की जाय, यह मण्डल ही सोचेगा। इसलिए दूसरों के सोचने की तो कोई खास बात रह ही नहीं जाती। गाँधीजी के कार्यक्रम में काम करनेवाले हरेक कुटुम्ब के पास उत्पत्ति के साधन अधिकांश में अपने स्वामित्व के ही होते हैं। इसलिए खेती करनी हो तो उस सम्बन्धी सारी और दूसरा कोई उद्योग करना हो तो उसकी तफ़सीली बातों पर—जैसा कच्चा माल कहाँ से लाना, कब ख़रीदना, उसमें से क्या-क्या बनाना, क्या-क्या बेचना, इस सबका—उसको विचार करना पड़ता है और इस सब नफ़े-नुक़सान की ज़िम्मेदारी उसीपर रहती है। इस तरह काम करने से जिस ज़िम्मेदारी

और होशियारी का ख़याल रहता है, जो विचारशक्ति पैदा होती है, विविध विषयों का जो सामान्य ज्ञान मिलता है, वह सौंपा हुआ काम निश्चित समय करनेवाले मज़दूर में नहीं होता । काम के द्वारा जो शिक्षा मिलती है और जीवन का जो विकास होता है, वह मनुष्य के खाली मजूर बन जाने पर नहीं हो सकता ।

इसके विरुद्ध समाजवादी यह दलील ज़रूर कर सकते हैं कि गाँधीजी के कार्यक्रम में हरेक मनुष्य को अधिक घण्टे काम करना पड़ेगा, जबकि हमारे कार्यक्रम में यंत्रों और भौतिक शक्ति की मदद होने के कारण समाज की आवश्यकताओं जितनी चीज़ें थोड़े घण्टों के काम से ही तैयार की जा सकेंगी और सब लोगों को जो अधिक अवकाश मिलेगा, उसका उपयोग वे जीवन का विकास करनेवाली प्रवृत्तियों में करेंगे। लेकिन अवकाश या फ़ुर्सत का सदुपयोग करना उतनी सहज बात नहीं है जैसा कि समझा जाता है। हमारे सुशिक्षित माने जाने वाले व्यक्ति उन्हें मिलनेवाले अवकाश का कैसा उपयोग करते हैं, उसकी अगर ठीक-ठीक जाँच की जाय तो इस बात की कल्पना हो सकती है कि अवकाश में से जीवन के विकास की सम्भावना कितनी कम है ।

गाँधीजी स्वामित्व का हक़ मिटाने के लिए नहीं कहते, मगर उनकी सारी अर्थ-व्यवस्था ऐसी है कि मालिकों के लिए शोषण की गुंजाइश ही नहीं रहती । गृह-उद्योग और ग्राम-उद्योग द्वारा होनेवाली उत्पत्ति में पूँजी और श्रम के झगड़े के लिए भी गुँजाइश नहीं रहती ।

कारख़ानों के जीवन में—फिर चाहे वे कारख़ाने सामाजिक स्वामित्व के ही क्यों न हों—तथा जीवन के प्रत्येक अंग पर अंकुश रखनेवाले केन्द्रीभूत सत्तावाले राजतंत्र में कुटुम्ब-प्रथा टूट जायगी, ऐसा भी एक भय है। समाजवादी कहते हैं कि हम कुटुम्ब-प्रथा तोड़ना नहीं चाहते, पर यह हमें ज़रूर मालूम पड़ता है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था में कुटुम्ब-प्रथा निभ नहीं सकेगी और इसका हमें कोई दुःख भी नहीं है । पुरुष-स्त्री दोनों कारख़ानों अथवा खेतों में काम करने जायें, दोनों को अपने सोवियट की ओर से

खाने को मिले और बालकों की शिक्षा की व्यवस्था भी सोवियट अपने ऊपर ले ले, बीमारी, बुढ़ापे अथवा अल्पायु के बालकों के लिए भी कोई सम्पत्ति जमा करने की ज़रूरत न हो, क्योंकि इस सबकी ज़िम्मेदारी सरकार के ऊपर होती है, तो फिर कुटुम्ब-संस्था का प्रयोजन बहुत कम रह जाता है। इस समय रूस में विवाह तथा तलाक केवल उस विभाग के दफ्तर में जाकर स्त्री-पुरुष द्वारा अपनी ऐसी इच्छा ज़ाहिर करने मात्र से हो सकते हैं। अन्य देशों में विवाह-सम्बन्ध के बगैर होनेवाले स्त्री-पुरुष-सम्बंध अपमानजनक अथवा कलंकरूप माने जाते हैं; पर वहाँ ऐसी भी कोई बात नहीं है। इतने पर भी ऐसा मानने की कोई वजह नहीं है कि वहाँ दुराचार का साम्राज्य है। संसार के हरेक बड़े शहर में बड़े-बड़े चकले (वेश्यालय) उस-उस शहर को कलंकित करते हैं, पर मास्को में आज यह बात बिल्कुल नहीं रही है, और इस धंधेवाली स्त्रियों को ख़ास तौर से शिक्षा देकर विविध कामों में लगा दिया गया है।

गाँधीजी के कार्य-क्रम में कुटुम्ब-प्रथा के महत्व पर खासतौर से ज़ोर दिया जाता है। कुटुम्ब-प्रथा का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य बालकों की शिक्षा है। कुटुम्ब की सार्थकता इसी बात में है कि जिन बालकों को खुद ही पैदा किया है उन्हें स्त्री-पुरुष दोनों साथ मिलकर अच्छी तरह शिक्षित बनायें। बालकों के सर्वांगीण विकास के लिए प्रेममय वातावरण की अत्यन्त आवश्यकता है। बिल्कुल छोटे बालकों के पोषण के लिए 'नर्सरी' (शिशुगृह) और उससे कुछ बड़ी उम्र के बालकों के लिए बाल-छात्रालय बनाये जाते हैं, परन्तु कुटुम्ब का प्रयोजन उनसे कभी सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि शिक्षक चाहे जितना शास्त्रीय ज्ञान रखते हों, पर वे माता का स्थान नहीं ले सकते। कुटुम्ब में बालकों को माता-पिता के प्रेम की जो शीतल छाया मिलती है और माता-पिता की देखभाल में वे जितनी अच्छी तरह परवरिश पाते हैं उतनी शीतल छाया और देखभाल 'नर्सरी' तथा बाल-छात्रालय में मिलना लगभग असम्भव ही है। आज के हमारे कुटुम्बों में ऐसा वातावरण दिखलाई नहीं पड़ता तो उसमें सुधार करना चाहिए, पर

इतने वर्षों के सामाजिक पुरुषार्थ के बाद कुटुम्ब-प्रथा का जो विकास हुआ है उसे नष्ट हो जाने देने—अथवा उसका नाश हो जाय, ऐसी रचना करने में तो दुनिया का नुक़सान ही है । कुटुम्ब में जिन सामाजिक सद्गुणों का विकास होना सम्भव है, वे 'नर्सरी' या बाल-छात्रालय में नहीं आ सकते ।

दोनों कार्यक्रमों की तुलना का सार निकालने पर मालूम पड़ता है कि समाजवादी कार्यक्रम कुछ विशेष निश्चित स्वरूप का है, क्योंकि उसकी सारी योजना सैनिक ढंग पर की हुई है । समाजवादी सेना तथा पुलिस की मार्फत और सरकारी अंकुशवाले प्रेस, रेडियो, सिनेमा आदि प्रचार के साधनों द्वारा नवीन समाज-रचना खड़ी करना चाहते हैं । बाहरी दबाव पर उसमें विशेष आधार रहता है, इसलिए उसमें बाह्य परिवर्त्तन जल्दी होता है । गाँधीजी की प्रवृत्ति आन्तरिक परिवर्त्तन करने की है । उनके कार्यक्रम में बाहरी दबाव की गुंजाइश नहीं है । उनके कार्यक्रम का मुख्य अंग यह है कि लोगों को नये ढंग से विचार करना आ जाय । उनकी अपील केवल मजूर-वर्ग, किसान-वर्ग अथवा दलित-वर्ग से ही नहीं है, बल्कि धनिकों और मालिकों से भी है । धनिकों और मालिकों का वह नाश नहीं चाहते, पर उनका हृदय-परिवर्त्तन करके उन्हें अन्याय-अत्याचार करने से रोकते हैं । फिर उनके कार्यक्रम के अनुसार सारी अर्थ-रचना अपने आप ऐसी बनती है कि उसमें अन्याय-अत्याचार की गुंजाइश ही नहीं रहती । उसमें सत्ता और धन की प्रतिष्ठा के बदले सेवा और शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा की स्थापना होती है । ये सब फेर-बदल आन्तरिक होने के कारण जितना मूल्य-परिवर्त्तन गाँधीजी के कार्यक्रम में होता है उतना मूल्य परिवर्त्तन समाजवादी कार्यक्रम में नहीं होता । समाजवादी कार्यक्रम में सैनिकबल, बड़े पैमाने पर उत्पादन, यंत्रों का दीवानापन, आवश्यकताओं की अमर्याद वृद्धि, ये सब चीजें पुरानी अर्थ-रचना में की ही रहती हैं, जबकी अहिंसा तथा स्वदेशी-धर्म द्वारा गाँधीजी एक बिल्कुल ही नये दर्शन का निर्माण करते हैं । उसमें बाहरी दबाव न होने से उनकी कल्पनानुसार

हुई रचना अधिक चिरस्थायी तथा सुखशान्तिमय होने की सम्भावना है। उसमें किसीके प्रति कोई द्वेष या ईर्ष्या न होने के कारण वह एक पक्ष या वर्ग के कल्याण का नहीं बल्कि सबके कल्याण का कार्यक्रम है। इसलिए गाँधीजी ने उसका नाम जो सर्वोदय रक्खा है वह सार्थक है।

: ८ :

गांधी-नीति

[श्री जैनेन्द्रकुमार]

कहा गया कि गांधीवाद पर कुछ लिखकर दूँ। मेरे लेखे गांधीवाद शब्द मिथ्या है। जहां वाद है वहां विवाद अवश्य है। वाद का लक्षण है कि प्रतिवाद को विवाद द्वारा खंडित करे और इस तरह अपने को प्रचलित करे। गांधी के जीवन में विवाद एकदम नहीं है। इसलिए गांधी को वाद द्वारा ग्रहण करना सफल नहीं होगा।

गांधी ने कोई सूत्रबद्ध मंतव्य प्रचारित नहीं किया है। वैसा रेखाबद्ध मंतव्य वाद होता है। गांधी अपने जीवन को सत्य के प्रयोग के रूप में देखते हैं। सत्य के साक्षात्कार की उसमें चेष्टा है। सत्य पा नहीं लिया गया है, उसके दर्शन का निरन्तर प्रयास है। उनका जीवन परीक्षण है। परीक्षाफल आंकने का काम इतिहास का होगा, जबकि उनका जीवन जिया जा चुका होगा। उससे पहले उस जीवन-फल को तौलने के लिए वाद कहां है, Perspective कहां है?

जो सिद्धान्त गांधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और परिपुष्ट हो रहा है वह केवल बौद्धिक नहीं है। इसलिए वह केवल बुद्धिग्राह्य भी नहीं है। वह समूचे जीवन से संबंध रखता है। इस लिहाज़ से उसे आध्यात्मिक कह सकते हैं। आध्यात्मिक, यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नहीं रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक, वादगत अथवा अन्य क्षेत्रों में वह एक-सा व्यापक है। वह चिन्मय है, वादगत वह नहीं है।

गाँधी के जीवन की समूची विविधता भीतरी संकल्प और विश्वास की निपट एकता पर क़ायम है। जो चिन्मयतत्त्व उनके जीवन से व्यक्त होता है उसमें खण्ड नहीं है। वह सहज और स्वभाव-रूप है। उसमें प्रतिभा की आभा नहीं है, क्योंकि प्रतिभा द्वंद्वज होती है। उस निर्गुण अद्वैत-तत्त्व के प्रकाश में देख सकें तो उस जीवन का विस्मयकारी वैचित्र्य दिन की धूप जैसा धौला और साफ़ हो आयगा। अन्यथा गाँधी एक पहेली है जो कभी खुल नहीं सकती। कुंजी उसकी एक और एक, ही है। वहाँ दो-पन नहीं हैं। वहाँ सब दो एक हैं।

"सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" समूचे और बहुतेरे मतवादों के बीच में रहकर, सबको मानकर किन्तु किसीमें न फँसकर, गाँधी ने सत्य की शरण को गह लिया। सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य। इसके अतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई और भाषा नहीं है, न सत्य की ही कोई और परिभाषा है। इस दृष्टि से गाँधी की आस्था का आधार अविश्वासी को एकदम अगम है। पर वह आस्था अटूट, अजेय और अचूक इसी कारण है। देखा जाय तो वह अति सुगम भी इसी कारण है।

कहाँ से गाँधी को कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है, इसका बिना अनुमान किये उस कर्म का अंगीकार कठिन होगा। स्रोत को जान लेने पर मानों वह कर्म सहज उपलब्ध हो जायगा। गाँधी की प्रेरणा शत-प्रति-शत आस्तिकता में से आती है। वह सर्वथा अपने को ईश्वर के हाथ में छोड़े हुए हैं। ऐसा करके अनायास वह भाग्य-पुरुष (Man of Destiny) हो गये हैं। जो वह चाहते हैं, होता है—क्योंकि जो होने वाला है उसके अतिरिक्त चाह उनमें नहीं है।

बौद्धिक रूप से ग्रहण की जाने वाली उनकी जीवन-नीति, उनकी समाज-नीति, उनकी राजनीति इस आस्तिकता के आधार को तोड़कर समझने की कोशिश करने से समझ में नहीं आ सकती। इस भाँति वह एकदम विरोधाभास से भरी, वक्रताओं से वक्र और प्रपञ्चों से क्लिष्ट मालूम

होगी। जैसे मानों उसमें कोई रीढ़ ही नहीं है। वह नीति मानों अवसर-वादी (Opportunist) की नीति है। मानों वह घाघपन है। पर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह घाघ-पन, यह कार्यकौशल, अनायास ही यदि उन्हें सिद्ध हो पाया है तो इसी कारण कि उन्होंने अपने जीवन के समूचे ज़ोर से एक और अकेले लक्ष्य को पकड़ लिया है। और वह लक्ष्य क्योंकि एकदम, निर्गुण, निराकार, अज्ञेय और अनन्त है, इसमें वह किसीको बाँध नहीं सकता, खोलता ही है। उस आदर्श के प्रति उनका समर्पण सर्वांगीण है। इसलिए सहज भाव से उनका व्यवहार भी आदर्श से उज्ज्वल और ग्रन्थिहीन हो गया है। उसमें द्विविधा ही नहीं है। दुनिया में चलना भी मानों उनके लिए अध्यात्म का ध्यान है। नर की सेवा नारायण की पूजा है। कर्मसुकौशल ही योग है। ईश्वर और संसार में विरोध, यहाँ तक कि द्वित्व, ही नहीं रह गया है। सृष्टि सृष्टामय है और विष्ठा को भी सोना बनाया जा सकता है। यों कहिए कि सृष्टि में सृष्टा, नर में नारायण, पदार्थमात्र में सत्य देखने की उनकी साधना में से ही उनकी राजनीति, उनकी समाजनीति ने वह रुख लिया जो कि लिया। राजनीति आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुई, स्थूल कर्म में सत्यज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और घोर घमसान में प्रेम और शान्ति के आनन्द को अक्षुण्ण रखना बताया गया।

सत्य ही है। भेदभाव उसमें लय है। इस अनुभूति की लीनता ही सबका परम इष्ट है। किन्तु हमारा अज्ञान हमारी बाधा है। अज्ञान यानी अहंकार। जिसमें हम हैं उसमें ही, अर्थात् स्वयं में शून्य, अपने को अनुभव करते जाना ही ज्ञान पाना और जीवन की चरितार्थता पाना है। यही कर्तव्य, यही धर्म।

विश्वास की यह भित्ति पाने पर जब व्यक्ति चलने का प्रयासी होता है तब उसके कर्म में आदेश सामाजिकता अपने आप समा जाती है। समूचा राजनैतिक कर्म भी इसके भीतर आ जाता है। देश-सेवा आती है। विदेशी सरकार से लड़ना भी आ जाता है। स्वराज्य क़ायम करना

और शासन-विधान को यथावश्यक रूप में तोड़ना-बदलना भी आ-जाता है।

पर वह कैसे ?

सत्य की आस्था प्राप्त कर उस ओर चलने का प्रयत्न करते ही अभ्यासी को दूसरा तत्त्व प्राप्त होता है—अहिंसा। उसे सत्य का ही प्राप्त पहलू कहिए। जैसे रात को चांद का बस उजला भाग दीखता है, शेष पिछला भाग उसका नहीं दिखाई देता, उसी तरह कहना चाहिए कि जो भाग सत्य का हमारे सन्मुख है वह अहिंसा है। वह भाग अगर उजला है तो किसी अपर-ज्योति से ही है। लेकिन फिर भी वह प्रकाशोद्गम (सत्य) स्वयं हमारे लिए कुछ अज्ञात और प्रार्थनीय ही है। और जो उसका पहलू आचरणीय रूपमें सम्मुख है वही अहिंसा है।

सत्य में तो सब हैं एक। लेकिन यहाँ इस ससार में तो मुझ जैसे कोटि-कोटि आदमी दीखते हैं। उनके अनेक नाम हैं, अनेक वर्ग हैं। ईश्वर में आस्था रक्खूं तो इस अनेकता के प्रति कैसा आचरण करूँ ? उन अनेकों में भी कोई मुझे अपना मानता है, कोई पराया गिनता है। कोई सगा है, दूसरा द्वेशी है। और इस दुनिया के पदार्थों में भी कुछ मेरे लिए ज़हर है, कुछ अन्य औषध है। इस विषमता से भरे संसार के प्रति ऐक्य-विश्वास को लेकर मैं कैसे वर्तन करूँ, यह प्रश्न होता है।

आस्तिक अगर ऐसे विकट अवसर पर संशय से घिरकर आस्तिकता को छोड़ नहीं बैठता, तो उसके लिए एक ही उत्तर है। वह उत्तर है, अहिंसा।

जो है ईश्वर का है, ईश्वर-कृत है। मैं उसका, किसीका, नाश नहीं चाह सकता। किसीकी बुराई नहीं चाह सकता। किसीको झूठा नहीं कह सकता। घमण्ड नहीं कर सकता आदि कर्तव्य एकाएक ही आस्तिक के ऊपर आ जाते हैं।

लेकिन कर्तव्य कुछ आजाय—तर्क सुझायगा कि—सचाई भी तो मैं देखूं। आँख सब ओर से तो मूँदी नहीं जा सकती। वह आँख दिखाती है

कि जीव जीव को खाता है। मैं चलता हूँ, कौन जानता है कि इसमें भी बहुतों को असुविधा नहीं होती, बहुतों का नाश नहीं होता ? आहार बिना क्या मैं जी सकता हूँ ? लेकिन आहार क्या हिंसा नहीं है ? जीवन का एक ही व्यापार 'ईश्वर' के बिना सम्भव नहीं बनता दीखता। जीवन युद्ध दिखलाई देता है। वहाँ शान्ति नहीं है। पग-पग पर दुविधा है और विग्रह है।

तब कहे, कौन क्या कहता है। ऐसे स्थल पर आकर ईशनिष्ठा टूटकर ही रहेगी। ऐसे समय पागल ही ईश्वर की बात कर सकता है। जिसकी आँखें खुली हैं और कुछ देख सकती हैं वह सामने के प्रत्यक्ष जीवन में से और इतिहास द्वारा परोक्ष जीवन में से साफ-साफ सार-तत्त्व को पहचान लेगा कि युद्ध ही मार्ग है। उसमें बल की ही विजय है, और बल जिस पद्धति से विजयी होता है उसका नाम है अहिंसा। जो मज़बूत है वह निर्बल को दबाता आया है, और इस तरह विकास होता आया है।

मेरे ख़याल में श्रद्धा के अभाव में तर्क की और बुद्धि की सचाई और चुनौती यही है।

किन्तु समस्या भी यही है। रोग भी यही है। आज जिस उलझन को सुलझाने का सवाल हर देश में, हर काल में, कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करनेवाले योद्धा के सामने आयगा वह यही है कि इस कुरु-क्षेत्र में मैं क्या करूँ ? किसको छोड़ूँ, किसको लूँ ? बुराई को कैसे पछाड़ूँ ? बुराई क्या है ? क्या बुराई अमुक अथवा अमुक नामधारी है ? या बुराई वह है जो कि दुःख देती है।

इतिहास की आदि से दो नीति और दो पद्धति चलती चली आई हैं। एक वह जो अपनेमें नहीं, बुराई कहीं बाहर देखकर ललकार के साथ उसके नाश के लिए चल देती है। दूसरी, जो स्वयं अपनेको भी देखती है और बुरे को नहीं, उसमें विकार के कारण आगई हुई बुराई को दूर करना चाहती है। आस्तिक की पद्धति यह दूसरी ही हो सकती है। आस्तिकता के बिना बहुत मुश्किल है कि पहली नीति को मानने और उसके वश में हो जाने से व्यक्ति बच सके।

गाँधी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक प्रयोग है। वह नीति संघर्ष की परिभाषा में बात नहीं सोचती । संघर्ष की भाषा उसके लिए नितान्त असंगत है। युद्ध तो अनिवार्य ही है, किन्तु वह धर्म-युद्ध हो। जो धर्म-भाव से नहीं किया जाता वह युद्ध संकट काटता नहीं, संकट बढ़ाता है। धर्म साथ हो, फिर युद्ध से मुँह मोड़ना नहीं है। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु मित्र बनता है । नहीं तो शत्रु चाहे मिट भी जाय, पर वह अपने पीछे शत्रुता के बीज छोड़ जाता है और इस तरह शत्रुओं की संख्या गुणानुगुणित ही हो जाती है। अतः युद्ध शत्रु से नहीं, शत्रुता से होगा। बुराई से लड़ना कब रुक सकता है ? जो बुराई को मान बैठता है, वह भलाई का कैसा सेवक है ? इससे निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। एक क्षण भी उस युद्ध में आँख झपकने का अवकाश नहीं । किन्तु पल-भर के लिए भी वह युद्ध वासनामूलक नहीं हो सकता। वह जीवन और मौत का, प्रकाश-अंधकार और धर्म-अधर्म का युद्ध है । यह खांडे की धार पर चलना है।

इस प्रकार गाँधी-नीति की दो आधारशिला प्राप्त हुई :—

(१) ध्येय—सत्य ।

क्योंकि ध्येय कुछ और नहीं हो सकता । जिसमें द्विधा है, दुई है, जिससे कोई अलग भी है, वह ध्येय कैसा ? जो एक है, वह संपूर्ण भी है। वह स्वयंभू है, आदि-अंत है, अनादि-अनंत है । प्रगाढ़ आस्था से ग्रहण करो तो वही ईश्वर।

(२) धर्म—अहिंसा ।

क्योंकि उस ध्येय को मानने से जो व्यवहार-धर्म प्राप्त हो सकता है वह अहिंसा ही है।

अहिंसा इसलिए कहा गया कि उस प्रेरक (positive) तत्त्व को स्वीकार की परिभाषा में कहना नहीं हो पाता, नकार की ही परिभाषा हाथ रह जाती है। उसको कोई पॉज़िटिव संज्ञा ठीक ढक नहीं पाती। हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं है, वह तो उसका रूपभर है। उस अहिंसा का प्राण

प्रेम है। प्रेम से और जीवन्त (पॉज़िटिव) शक्ति क्या है ? फिर भी अहिंसा-गत और लौकिक प्रेम में अंतर बाँधना कठिन हो जाता, और 'प्रेम' शब्द में निषेध की शक्ति भी कम रहती; इसीसे प्रेम न कहकर कहा गया, 'अहिंसा'। वह अहिंसा निष्क्रिय (passive) पदार्थ नहीं है। वह तेजस्वी और सक्रिय तत्त्व है।

अहिंसा इस प्रकार मन की समूची वृत्ति द्वारा ग्रहण की जानेवाली शक्ति हुई। कहिए कि चित्त अहिंसा में भीग रहना चाहिये। और सत्य है ही ध्येय। कहा जा सकता है कि मात्र इन दोनों—सत्य-अहिंसा—के सहारे साधारण भाषा में लोक-कर्म के संबंध में कुछ प्रकाश नहीं प्राप्त होता। सत्य को मन में धार लिया, अहिंसा से भी चित्त को भिगो लिया, लेकिन अब करना क्या होगा ? तो उसके लिए है:—

(३) कर्म—सत्याग्रह।

'सत्याग्रह' मानों कर्म की व्याख्या है। सत्य प्राप्त नहीं है। उस उपलब्धि की ओर बढ़ते रहना है। इसीमें गति (उन्नति, प्रगति, विकास आदि) की आवश्यकता समा जाती है। इसीमें कर्तव्य (Doing) आ जाता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब पहली स्थापना में सत्य को अखंड और अविभाज्य कहा गया तब वहाँ अवकाश कहाँ रहा कि आग्रह हो ? जहाँ आग्रह है वहाँ, इसलिए, असत्य है।

यह शंका अत्यन्त संगत है। और इसी का निराकरण करने के लिए शर्त लगाई गई—सविनय। जहां विनय-भाव नहीं है वहां सत्याग्रह हो नहीं सकता। वहां उस 'घोष' का व्यवहार है तो जान अथवा अजान में छल है। व्यक्ति सदा ही अपूर्ण है। जबतक वह है, तबतक समष्टि के साथ उसका कुछ भेद भी है। फिर भी जो समष्टिगत सत्य की झांकी व्यक्ति के अंतःकरण में प्राप्त होकर जाग उठी है, व्यक्ति की समूची निष्ठा उसीके प्रति समर्पित हो जानी चाहिए। उस डटी रहनेवाली निष्ठा को कहा गया, आग्रह किन्तु उस आग्रह में सत्याग्रही अविनयी नहीं हो सकता,

और उस आग्रह का बोझ अपने ऊपर ही लेना है। उसकी (नैतिक से अतिरिक्त) चोट दूसरे तक नहीं पहुँचने देता। यानी सत्याग्रह है तो सविनय होगा। कहीं गहरे तक में भी वहां अविनय-भाव नहीं हो सकता। क़ानून (सरकारी और लौकिक) तक की अवज्ञा हो सकेगी, उसका भंग किया जा सकेगा, लेकिन तभी जबकि सत्य की निष्ठा के कारण हो और वह अवज्ञा सर्वथा विनम्र और भद्र हो।

गांधी-नीति के इस प्रकार ये तीन मूल सिद्धान्त हुए। यों तीनों एक ही हैं। फिर भी कह सकते हैं कि सत्य व्यक्तिगत है, अहिंसा सामाजिक और सत्याग्रह राजनैतिक हो जाता है।

इसके आगे संगठित और सामुदायिक रूप से कर्म की व्यवस्था और आन्दोलन का प्रोग्राम पाने के बारे में कठिनाई नहीं होगी। व्यक्ति किन्हीं विशेष परिस्थितियों को लेकर पैदा होता है। इन परिस्थितियों में गर्भित आदि-दिन से ही कुछ कर्त्तव्य उसे मिलता है। वह कर्तव्य कितना ही स्वल्प और सकड़ा प्रतीत होता हो, लेकिन वहीं व्यक्ति की सिद्धि और वहीं उसका स्वधर्म है। उसको करके मानों वह सब कुछ करने का द्वार पा लेता है। "स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।"

इस भांति बर्तन करने से विकल्प-काल कटता है। कल्पना को लगाम मिल जाती है। बुद्धि बहकती नहीं और तरह-तरह के स्वर्ग-चित्र (Utopias) तात्कालिक कर्म से बहकाकर व्यक्ति को दूर नहीं खींच ले जाते। क्षणोत्साह की (Romantic) वृत्ति इस तरह मंद होती है और परिणाम में स्वार्थ-जन्य स्पर्द्धा और आपाधापी भी कम होती है। सबको दबा देने और सबसे आगे बढ़े हुए दीखने की ओर मन उतना नहीं लपकता और परिणामतः व्यक्ति विक्षोभ और विषमता पैदा करने में नहीं लग जाता। महत्वाकांक्षा (Ambition) की धार तब काटती नहीं। व्यक्ति कर्मशाली तो बनता है, फिर भी भागाभागी से बच जाता है। वह मानों अपना स्वामी होता है। ऐसा नहीं जान पड़ता जैसे पीछे किसी चाबुक की मार पर बेबस भाव से अन्धी गति में भाग रहा हो।

मुझे तो मालूम होता है कि हमारी सामाजिक और राजनैतिक उलझनों की जड़ में मुख्यता से यही आपाधापी और बढ़ाबढ़ी की प्रवृत्ति है।

ऊपर यह आन्तरिक (Subjective) दृष्टिकोण की बात कही गई। यानी भावना-शुद्धि की बात। मुख्य भी वही है। पर प्रश्न होगा कि घटना की दुनिया (Objective Conditions) के साथ गांधी-नीति क्या करना चाहती है। उसमें क्या सुधार हो, और कैसे हो? समाज का संघठन क्या हो? आवश्यकता और अधिकार का उद्यम-आराम का, विज्ञान-कला का, शासन का और न्याय का परस्पर संपर्क और विभाजन क्या हो? श्रम और पूंजी कैसे निपटें? आदि-आदि।

तो प्रश्नकर्ता को पहले तो यह कहना आवश्यक है कि सारे प्रश्न आज अभी हल हो जायेंगे तो काल भी आज ही समाप्त होजायगा। इससे प्रश्नों को लेकर एक घटाटोप से अपने को घेरे लेने और हत्बुद्ध होने की आवश्यकता नहीं है। फिर उनका हल कागज़ पर और बुद्धि में ही हो जानेवाला नहीं है। सब सवालों का हल बतानेवाली मोटी किताब मुझे उन सवालों से छुटकारा नहीं दे देगी। इसलिए विचार-धाराओं (ideologies) से काम नहीं चलेगा। जो प्रश्न हैं, उनमें तो अपनी समूची कर्म की लगन से लग जाना है। ऐसे ही वे शनैः-शनैः निपटते जायेंगे। नहीं तो किनारे पर बैठकर उनका समाधान मालूम कर लेने से कर्म की प्रेरणा चूक जायगी और अंत में मालूम होगा कि वह मन द्वारा मान लिया गया समाधान न था, फ़रेब (illusion) था, और ज़रा बोझ पड़ते ही वह तो उड़ गया और हमें कोरा-का-कोरा वहीं-का-वहीं छोड़ गया। अर्थात् उन प्रश्नों पर बहसा-बहसी और लिखा-पढ़ी की अपने आप में जरूरत नहीं है। उनमें जुट जाना पहली बात है।

गांधी-नीति है कि समस्या को बौद्धिक कहकर केवल बुद्धिक्रीड़ा से उसे खोलने की आशा न करो। ऐसे वह उलझेगी ही। समस्या जीवन की है, इससे पूरे जीवन-बल के साथ उससे जूझो। इस कार्य-पद्धति पर बढ़ते ही पहला सिद्धान्त-सूत्र जो हाथ लगता है, वह है स्वदेशी।

स्वदेशी द्वारा व्यक्तिगत कर्म में सामाजिक उपयोगिता पहली शर्त के तौर पर मांगी जाती है। उस शर्त का अर्थ है कि हमारे काम से आस-पास के लोगों को लाभ पहुँचे। आदान-प्रदान बढ़े, सहानुभूति विकसे, और पड़ौसी-पन पनपे। Neighbourliness (पास-पड़ौसपन) स्वदेशी की जान है। मेरा देश वह जहां मैं रहता हूँ। इस भांति सबसे पहले मेरा घर और मेरा गांव मेरा देश है। उत्तरोत्तर वह बढ़कर जिला, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व तक पहुँच सकता है। भूगोल के नक़्शे का देश अंतिम देश नहीं है। मेरे घर को इन्कार कर नगर कुछ नहीं रहता, उसी तरह नगर प्रांत को इंकार कर राष्ट्र कुछ नहीं रहता। उधर दूसरी ओर नागरिक हित से विरोधी बनकर पारिवारिक स्वार्थ तो निषिद्ध बनता ही है।

स्वदेशी में यही भाव है। उसमें भाव है कि मैं पड़ौसी से टूटूँ नहीं और अधिकाधिक हममें हितैक्य बढ़े। दूसरा उसमें भाव है, सर्वोदय। एक जगह जाकर शरीर भी आत्मा के लिए विदेशी हो सकता है।

समाजवादी अथवा अन्य वस्तुवादी समाजनीतियाँ इसी जगह भूल कर जाती हैं। वे समाज को सम्हालने में उसीकी इकाई को भूल जाती हैं। उनमें योजनाओं की विशदता रहती है, पर मूल में neighbourliness के तत्त्व पर ज़ोर नहीं रहता। सामाजिकता वही सच्ची, जो पड़ौसी-प्रेम से आरंभ होती है। इस तत्त्व है इस तत्त्व को ध्यान में रक्खें तो बड़े पैमाने पर चलनेवाला यांत्रिक उद्योगवाद गिर जायगा। जहाँ बड़े कल-कारखाने हुए वहाँ जन-पद दो भागों में बँटने लगता है। वे दोनों एक-दूसरे को ग़रज़ की भावना से पकड़ते और अविश्वास से देखते हैं। वे परस्पर सह्य बने रहने के लिए एक-दूसरे की आँख बचाते और मिथ्याचार करते हैं। पूँजी-मालिक मजूरों की झौंपड़ियों को यथाशक्ति अपनेसे दूर रखता है और अपनी कोठी पर चौकीदारों का दल बैठाता है, जिससे खुद दुष्प्राप्य और सुरक्षित रहे। उधर मजूरों की आँखों में मालिक और मालिक का बंगला काँटा बन रहते हैं।

इस प्रकार के विकृत और मलिन मानवीय संबंध तभी असंभव बन

सकेंगे जब समाज की पुनर्रचना पड़ौसपन (neighourliness) के सिद्धान्त के आधार पर होगी। वह आधार स्वार्थ-शोध नहीं है। वस्तुवादी भौतिक (materialistic) नीतियां अंततः यहीं पहुँचती हैं कि व्यक्ति स्वार्थ के आधार पर चलता और चल सकता है।

स्वदेशी सिद्धान्त में से उद्योग का कार्यक्रम प्राप्त होता है, उसमें मानव-सम्बन्धों के अस्वच्छ होने का खटका कम रहता है। उसमें उत्पादन केन्द्रित नहीं होगा, और खपत के लिए मध्यम-वर्ग के बढ़ने और फूलने की गुजांइश कम रहेगी। मानव-श्रम का मूल्य बढ़ेगा और अनुत्पादक चातुर्य का मूल्य घटेगा। महाजन, श्रमी और ग्राहक सब आसपास मिले-जुले रहने के कारण समाज में वैषम्य विषम न होगा और शोषणवृत्ति को गर्व-स्फीन होने को अवकाश कम प्राप्त होगा।

इस भाँति चरखा, ग्रामोद्योग, मादक-द्रव्य निषेध, और हरिजन (दलित)-सेवा यह चतुर्विध कार्यक्रम हिन्दुस्तान को हालत को देखते हुए अन्तः-शुद्धि और सामाजिक उपयोगिता दोनों अन्तों को मिलानेवाली गाँधीनीति के स्वदेशी सिद्धान्तों से स्वयमेव प्राप्त होता है। यह शक्ति-संचय और ऐक्य-विस्तार का कार्यक्रम है। शक्ति और अवसर प्राप्त होने पर फिर सत्याग्रह (Direct Action) द्वारा राजनैतिक विधान में परिवर्तन लाने और उसे लोक-कल्याण की ओर मोड़ने की बात विशेष दुस्साध्य नहीं रहती।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि स्वदेशी का आरम्भ राष्ट्रभावना से नहीं होता। इसलिए उसका अन्त भी राष्ट्र-भावना पर नहीं है। राष्ट्र-भावना मध्य में आजाय तो भले ही आजाय। स्वदेशी को भौगोलिक राष्ट्र के अर्थ में लेने से गड़बड़ उपस्थित हो सकती है। इससे 'देशी' पूँजीवाद को बढ़ावा मिलता है। और उस राह तो एक दिन (State capitalism) में उतर आना होगा। उसके अर्थ होंगे, एकतंत्रीय शासन। यांत्रिक-उद्योगाश्रित समाजवाद का परिणाम आनेवाला है। यानी ऐसा समाजवाद एकतन्त्रवाद (फ़ाशिज्म आदि) को बुलाकर ही रहेगा। गाँधीनीति का

स्वदेशी सिद्धान्त, अतः हिंदुस्तानी मिलों को नहीं, घरेलू चरखों को चाहता है।

संक्षेप में गाँधीनीति इस स्थापना से आरम्भ होती है कि जीवात्मा सर्वात्मा का ही खंड है। इससे व्यक्ति का ध्येय सत्य से एकाकार होना है। उसकी इस यात्रा में ही समाज, राष्ट्र और विश्व के साथ सामंजस्य की बात आती है। वह जितना उत्तरोत्तर इन व्यापक सत्ताओं से एकात्म होता चला जावे उतना अपने और संसार की बंधन-मुक्ति में योगदान करता है। इस यात्रा के यात्री के जीवन-कर्म का राजनीति एक पहलू है। आवश्यक है, पर वह पहलू भर है। वह राजनीति कर्म में युद्ध-रूप हो, पर अपनी प्रकृति में उसे धर्ममयी और शान्ति-लक्षी ही होना चाहिए।

उस यात्रा का मार्ग तो अपरिचित ही है। फिर भी श्रद्धा यात्री का सहारा है। भीतरी श्रद्धा का धीमा-धीमा आलोक उसे मार्ग से डिगने न देगा। उस राही को तो एक क़दम बस काफ़ी है। वह चले, फिर अगला सूझा ही रक्खा है, मुख्य बात चलना है। राह चलने से ही खुलेगी। इस प्रकार इस यात्रा में प्रत्येक क़दम ही एक साध्य है। यहाँ साधन स्वयं साध्य का अंग है। साधन साध्य से भिन्न कहाँ हो सकता है। इससे लम्बा चलना है, लम्बी बातों का उसके लिए अवसर नहीं है। वह तो चला चले, बस चला चले।

व्यवहार का कोई भी कर्म धर्म से बाहर नहीं है। सबमें धर्म की श्वास चाहिए। उसी दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं को ग्रहण करने से समुचित समाधान का लाभ होगा। अन्यथा नहीं। सबके मन में एक जोत है। उसे जगाये रखना है। फिर उस लौ में जीवन को लगाये चले चलना है। चले चलना, चले चलना। जो होगा ठीक होगा। राह का अन्त न नाप। तुझे तो चलना है।

: ९ :

समाजवादी व्यवस्था

[—श्री सम्पूर्णानन्द]

समाजवादी के लिए पहली ज़रूरत यह है कि वह राज्य पर अधिकार प्राप्त करे। सम्भव है कि यह अधिकार वैधानिक उपायों से ही प्राप्त हो जाय--कुछ लोगों का यह विश्वास है कि फ्रांस में पापुलर फ्रण्ट सरकार की स्थापना इसकी शुभ सूचना है—परन्तु अबतक यह अधिकार-परिवर्त्तन क्रान्ति द्वारा ही होता रहा है।

समाजवादी क्रान्ति का यह अर्थ होगा कि राजनैतिक अधिकार उस वर्ग के हाथ में आजाय जो आज शोषित है। इस क्रान्ति की पद्धति क्या होगी, यह हिंसात्मक होगी या अहिंसात्मक, यह हमारे लिए अप्रासंगिक है। पर यह आवश्यक है कि राजनैतिक अधिकार समाजवादियों के हाथ में आये। केवल इतना ही काफ़ी नहीं है कि जिन लोगों का राजयन्त्र पर कब्ज़ा हो वे समाजवादी विचार रखते हों, परन्तु यह नितान्त आवश्यक है कि ये समाजवादी अद्यावधि-शोषित वर्गके हों; अर्थात् मजदूर और किसान, एक शब्द में सर्वहारा या तत्सम अर्थात् निम्न मध्यमवर्ग के हों। इसका तात्पर्य यह है कि यदि समाजवादी अधिकारियों को इस दलितवर्ग की सक्रिय सहानुभूति के द्वारा अधिकार की प्राप्ति हुई होगी तब तो वे समाजवादी व्यवस्था की ओर निर्भयता के साथ बढ़ सकेंगे, अन्यथा यदि वे दूसरे अर्थात् आजकल के साधिकारवर्गों की सहायता से शासन की गद्दी पर बैठेंगे तो उनको पदे-पदे समझौते की नीति बरतनी पड़ेगी और अपनी समाजवादी कार्यशैली को पीछे रखकर अपने हिमायतियों का हित साधन करना पड़ेगा। उनके हाथों बहुत से उपयोगी सुधार हो जायेंगे, पर सुधार मात्र के लिए क्रान्तियां नहीं होतीं।

इसका एक और अर्थ निकलता है, वह भी समझ लेना चाहिए। यदि समाजवादियों की परिस्थिति वैसी ही रही जैसी कि लोकतंत्र देशों में

विभिन्न राजनैतिक दलों की होती है, अर्थात् यह कि कभी पार्लमेन्ट बहुमत होगया तो दो-चार वर्ष तक मंत्रीमण्डल में आगये, अल्पमत हुआ तो पद से पृथक होगये, तो भी वे कुछ नहीं कर सकते। ऐसे राजनैतिक दलों से सदैव यह डर लगा रहता है कि यदि हमने कोई व्यापक उलट-फेर किया तो हमारे बाद जिस दल का बहुमत होगा वह हमारा किया-धरा सब उलट देगा, अतः वे डरकर ही आगे बढ़ते हैं। न तो उनको अतीत से नाता तोड़ते बनता है, न अनागत की ओर लम्बे डग डाल सकते हैं। ऐसे लोग भी साधारण सुधारक होकर ही रह जाते हैं। यदि समाजवादी व्यवस्था क़ायम होनी है तो यह आवश्यक है कि समाजवादी देश के एक नहीं, एकमात्र राजनैतिक दल हों। यह निश्चय होना चाहिए कि वे जो कुछ करेंगे, उसमें स्थायित्व होगा और उनको दूसरे दलों के साथ समझौता करके अपनी कार्य-पद्धति में परिवर्तन करने की ज़रूरत नहीं है। यह स्थायित्व तभी हो सकता है जब साधारण पार्लमेण्टरी ढंग कुछ काल के लिए स्थगित-सा हो गया हो और समाजवादियों के हाथ में क्रान्ति के द्वारा अधिकार आया हो।

कुछ लोग यह कहते हैं कि यदि समाजवाद में कुछ तथ्य है तो समाजवादी कहीं छोटे-से क्षेत्र में उसका प्रयोग करके उसकी व्यावहारिकता सिद्ध करें। भारत में बहुधा यह सुना जाता है कि गाँधीवाद और समाजवाद का इस समय मुक़ाबिला है। इन दोनों में गाँधीवाद तो नित्य व्यवहार में बरता जा सकता है, पर समाजवाद की परीक्षा नहीं होती, इसलिए उसके पीछे पड़ना अपने को संदिग्ध चीज़ के हाथों बेच देना है।

यूरोप में कई बार छोटे-से क्षेत्र में समाजवादी प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया। समाजवादी बस्तियाँ तक बसाई गईं। पर वे सब प्रयोग असफल रहे। आज रूस में ही ऐसा प्रयत्न सफल होरहा है। कारण स्पष्ट है। जबतक सारे देश में समाजवादी वातावरण न हो तबतक कोई एक कल-कारख़ाना समाजवादी ढंग से नहीं चल सकता। यदि कोई व्यक्ति किसी समाजवादी को यह चुनौती देता है कि तुम समाजवाद की व्यावहारिकता

छोटे क्षेत्र में दिखला दो तो उसका यही उत्तर है कि ऐसा नहीं हो सकता।

गाँधीवाद और समाजवाद का सवाल उठाना भी निरर्थक है। गाँधीवाद या तो साधन है या साध्य। यदि वह साधन है तो वह तप, इन्द्रिय-निग्रह, उदारता आदि का नाम है। इन चीज़ों के स्वरूप के विषय में थोड़ा-बहुत मतभेद भले ही हो, पर समाजवादियों को इनसे कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। हाँ, दोनों में एक प्रत्यक्ष भेद है। एक का सम्बन्ध व्यक्तियों से है, अतः उसका फल जल्दी देख पड़ता है; दूसरे का सम्बन्ध राष्ट्रों से है, अतः उसका फल दीर्घकाल में देख पड़ता है।

वस्तुतः समाजवाद की व्यावहारिकता का सबूत माँगना वैसा ही है जैसे स्वाधीनता की व्यावहारिकता का प्रमाण माँगना। न समाजवाद का प्रयोग छोटे-से क्षेत्र में हो सकता है, न स्वाधीनता का। दोनों के लिए कठिन परिश्रम करना होता है और यह परिश्रम दीर्घकाल तक जारी रखना होता है। बिना राजयंत्र पर क़ब्ज़ा किये दो में से एक का भी आस्वाद नहीं हो सकता।

अधिकार प्राप्त करके समाजवादी कल-कारखानों, बैंकों, रेलों, जहाज़ों खानों और जंगलों को सार्वजनिक सम्पत्ति बनादेंगे, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। यह सम्भव नहीं है कि कोई ऐसा कारखाना चल सके जिसमें कई व्यक्ति मज़दूर की हैसियत से काम करें और एक या थोड़े से व्यक्ति मुनाफ़ा लें। जो लोग माल तैयार करनेवाले और ग्राहक के बीच में बड़ी-बड़ी आढ़तें खोलकर मुनाफ़ा करते हैं, उनका स्थान सार्वजनिक दुकानें या ग्राहकों की सम्मितियाँ लेंगीं। खेती की अवस्था भी आज जैसी नहीं रह सकती। शोषण तो खत्म हो ही जायगा। न तो ज़मींदारी प्रथा रह जायगी न काश्तकार ही अपनी भूमि लगान पर उठा सकेंगे। छोटी-छोटी टुकड़ियों की खेती लाभदायक नहीं हो सकती है, चकबंदी की कोशिश हो सकती है, पर इससे भी अच्छी चीज़ सम्मिलित कृषि है—अर्थात् गांव के सब कृषकों की भूमि की एकसाथ खेती हो। सबकी ज़िम्मेदारी पर बीज, खाद इत्यादि के लिए ऋण भी सुगमता से मिल सकता है; मशीनें भी खरीदी जा

सकती हैं या राज की ओर से मिल सकती हैं; पैदावार की बिक्री का भी अच्छा प्रबन्ध हो सकता है। सब खर्च काटकर जो मुनाफ़ा बचेगा उसमें सबका हिस्सा लग जायगा। निजी सम्पत्ति का भी कुछ-कुछ पुनर्वितरण होगा। एक मकानों का ही उदाहरण लीजिए। ऐसे भी लोग हैं, जिनके मकानों में इतनी जगह है कि सारे घर के लोग कितना भी फैलकर रहें उसका उपयोग नहीं कर सकते। एक-एक मकान के चारों ओर बाग़ के रूप में इतनी भूमि घिरी पड़ी है जिसमें एक-एक छोटा गाँव बस सकता है। यह अनुचित है कि इतनी ज़मीन एक परिवार के क़ब्जे में रहे और हज़ारों परिवारों के सिर पर श्रावण-भाद्र की वर्षा में एक छप्पर तक न हो। ऐसे मकानों में सैंकड़ों परिवार बसाये जा सकते हैं और जायेंगे। पण्यों का परिसीमन भी करना होगा।

प्रत्येक देश के समाजवादी शासकों को अपने देश की परिस्थिति के अनुसार काम करना होगा। सिद्धान्त और लक्ष्य सबका एक होगा। सबकी कोशिश यह होगी कि उत्पादन, वितरण और विनिमय के मुख्य साधनों पर सार्वजनिक अधिकार हो और शोषण बन्द हो, ताकि वर्ग-संघर्ष खत्म होजाय और सारे देश में अपनी मेहनत से कमाकर खानेवाले ही देख पड़ें अर्थात् वर्ग-भेद मिट जाय। इस लक्ष्य को सामने रखकर चलने में भिन्न-भिन्न देशों में किञ्चित भिन्न मार्गों का अवलम्बन करना पड़ सकता है।

अक्सर लोगों को यह ख़याल है कि समाजवादी दस्तकारियों का विरोधी होता है, क्योंकि वह मशीनों के प्रयोग का पक्षपाती है। ऐसे लोग यह समझते हैं कि समाजवादियों के हाथ में अधिकार आते ही सब हाथ के काम ख़त्म कर दिये जायेंगे। यह ख़याल ग़लत है। समाजवादी न तो मशीनों के हाथ बिका है, न उसको हाथ की कारीगरी से शत्रुता है। वह इन चीज़ों पर किसी रूढ़ि का दास होकर विचार नहीं करता। हाथ की कारीगरी प्राचीन है अथच उसमें कोई विशेष धार्मिकता या पूज्यता है, ऐसा वह नहीं मान सकता। मशीन नई चीज़ है, इसलिए उसका प्रयोग

होना ही चाहिए, यहभी कोई अकाट्य नियम नहीं है। सब बातें परिस्थिति पर निर्भर हैं।

एक और ख़याल बहुत फैला हुआ है। लोग समझते हैं कि समाजवादी पारिवारिक जीवन के शत्रु हैं और उनके हाथ में अधिकार आते ही विवाह की प्रथा तोड़ दी जायगी और कौटुम्बिक जीवन का अन्त होजायगा। यह ख़याल भी ग़लत है। इतना अवश्य है कि समाजवादी स्त्री को पुरुष का गुलाम नहीं मानता और समाजवादी शासन में न केवल स्त्रियों वरन् बच्चों के स्वत्वों का भी लिहाज़ किया जायगा। समाजवादी न तो विवाह-प्रथा को नष्ट करना चाहता है, न पारिवारिक जीवन का अन्त करना चाहता है। हाँ, यह अवश्य है कि बच्चे केवल बाप-माँ की नहीं, वरन् सारे समुदाय की सम्पत्ति हैं। उनके भरण-पोषण, शिक्षा आदि का दायित्व सारे समुदाय पर है; अतः बाप-माँ या अन्य अभिभावक इस विषय में स्वतन्त्र नहीं छोड़े जा सकते। यदि इस देख-रेख का प्रभाव यह पड़े कि दो-चारसौ बरस या और अधिक समय में पारिवारिक बन्धन धीरे-धीरे ढीला होते-होते आप ही राज की भाँति ख़त्म होजाय तो इसकी बाबत कुछ कहा नहीं जा सकता।

समाजवादी धर्म के प्रति क्या करेंगे, इस सम्बन्ध में बहुत लोगों को चिन्ता है। ऐसे प्रसंग में धर्म का अर्थ मज़हब या सम्प्रदाय होता है। जहाँतक धर्म का अर्थ मनुप्रोक्त धृतिक्षमादि दशलक्षणात्मक वस्तु से है वहाँतक कोई चिन्ता की बात नहीं है। वह तो सचमुच सनातन है। पर वैष्णव, शैव, शाक्त, इस्लाम, ईसाई मत, हीनयान आदि सम्प्रदायों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। इनकी क्या गति होगी? इस सम्बन्ध में इतना निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि समाजवादी राज में किसी को उपासना में बाधा नहीं डाली जायगी, पर किसी सम्प्रदाय के साथ कोई ख़ास रिआयत भी न होगी। कोई पद किसी सम्प्रदाय का अनुयायी होने के कारण नहीं दिया जा सकता। यह भी तय है कि सम्प्रदायों की आड़ में जो अनाचार होते हैं या विशाल सम्पत्तियाँ थोड़े-

से व्यक्तियों के भोग की सामग्री बन जाती हैं उनपर रोक होगी। पर इससे किसी भी सच्चे धर्मभीरु को क्षुब्ध न होना चाहिए। समाजवादियों को यह विश्वास है कि साम्प्रदायिक झगड़ों का निपटारा तभी हो सकता है जब उनकी तह में छिपे हुए आर्थिक संघर्षों का निपटारा हो।

यह कहना न होगा कि इस ज़माने में जनसाधारण की अवस्था में कल्पनातीत उन्नति होगी। समाजवादी राज इस बात का ज़िम्मा लेगा कि हर स्वस्थ व्यक्ति को काम दिया जायगा। कोई बेकारी के कारण नंगा-भूखा न रहने पायगा। जबतक काम नहीं दिया जाता तबतक उसका भरण-पोषण सरकारी कोष से होगा। पर काम देने का तात्पर्य वैसा काम देना नहीं है जैसा हमारे देश में कभी-कभी क़हत के ज़माने में दिया जाता है। काम इतना लिया जायगा जितना स्वास्थ्यकर हो। यह भी ध्यान में रखना होगा कि देश के सब लोगों को काम देना है, अतः किसी एक आदमी से बहुत काम कराने का फल यह होगा कि दूसरों की बारी न आयगी। काम अधिक न होने से सबके पास पर्याप्त अवकाश रहेगा। आजकल अवकाश काटने का साधन नहीं मिलता। फ़ुर्सत वाले बहुधा मद्यपान करते, जुआ खेलते या ऐसे ही दूसरे निन्द्य काम करते पाये जाते हैं। फ़ुर्सत से लाभ उठाने की योग्यता भी सबमें नहीं है। समाजवादी सरकार पर इसका भी ज़िम्मा होगा। वह शिक्षा का व्यापक प्रबन्ध करेगी। बच्चों को ही नहीं, बूढ़ों को भी इतिहास, राजनीति, विज्ञान आदि विषयों के भाषण सुनने का मौक़ा मिलेगा। थियेटर, पार्क, बाग़, संग्रहालय और चित्रागार, मनोरंजन तथा शिक्षा की सामग्री सबके पास पहुँचायेंगे। जिस प्रकार किसी का नंगा-भूखा रहना राज के लिए लाञ्छन होगा, उसी प्रकार किसी रोगी का औषधोपचार के बिना रह जाना उसका कर्त्तव्य से पतन होगा। जवानी में अनिवार्य बीमा करके राज सबके बुढ़ापे को निष्कण्टक बना देगा। अदालतों का काम बहुत हल्का होजायगा। सम्पत्ति की अवस्था बदल जाने से दीवानी के मुक़दमे बहुत काम हो जायेंगे। खाने-पीने का सुख होने पर ऐसे कामों की ओर भी बहुत कम लोगों की

प्रवृत्ति जायगी जो फ़ौजदारी क़ानून के भीतर आते हैं। सब लोग इंद्रिय-निग्रह करने में समर्थ हो जायंगे। ऐसा दावा तो नहीं किया जा सकता, पर पेट के लिए वेश्यावृत्ति धारण करने वाली स्त्रियाँ बाज़ारों को कलुषित करती न देख पड़ेंगी। जागरित लोकमत बहुतसे अपराधों का आप ही दण्ड दे लेगा। क्षुद्र वैयक्तिक स्वार्थों का शमन करके समाजवादी व्यवस्था कला की धात्री होगी।

यह सब होगा, पर हम उस बात की ओर फिर ध्यान आकर्षित करना उचित समझते हैं जो आरम्भ में कही गई थी--यानी यह कि समाजवादी इस बात को कदापि पसन्द न करेगा कि जो अधिकार उसको इतनी दिक्क़त से मिला है वह हाथ से निकल जाय और समाजवाद का प्रयोग अपूर्ण रह जाय। इसलिए वह किसी भी व्यक्ति को ऐसी बातों के कहने या करने का कदापि मौक़ा न देगा जिससे समाजवादी राज आपन्न हो। आलोचना हो सकेगी, पर एक निश्चित सीमा के भीतर। इसमें भी सन्देह है कि पार्लमेण्ट या इस नाम की किसी अन्य सभा द्वारा शासन होगा या नहीं। शासन का सारा भार समाजवादियों को प्रायः अपने ही ऊपर लेना पड़ेगा।

कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं कि इससे, अर्थात् राज द्वारा लोगों पर कड़ी देख-रेख रहने से, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में बाधा पड़ती है। हम इसको स्वीकार करते हैं, पर यह बात वस्तुतः उतनी भयावह नहीं है जितनी कि सुनने में प्रतीत होती है। सोचना यह है कि किसके व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में रुकावट पड़ेगी। जो लोग नये विधान के साथ होंगे, उनको तो डरने की कोई बात नहीं है। यह भी मानना चाहिए कि वे सब लोग जो आज शोषित और उत्पीड़ित हैं, अर्थात् सब शरीर और मस्तिष्क से काम करने वाले श्रमिक और कृषक, वे लोग जो वर्ग-संघर्ष तथा शोषण के विरोधी होंगे, वे लोग जो पूँजीशाही और साम्राज्यशाही से व्यथित होंगे, नये विधान के साथ होंगे। पर ऐसे ही लोगों का नाम तो जनता है। इनको निकालने के बाद तो वही मुट्ठीभर आदमी बच जायँगे जो

अपने क्षुद्र स्वार्थ के कारण पुरानी व्यवस्था को फिर लाना चाहेंगे। ऐसे लोगों के स्वातन्त्र्य पर अंकुश लगाना बुरा नहीं हो सकता। जो लोग इनकी बिगाड़ी हुई दुनिया को बनाने का बीड़ा उठा कर चले होंगे वे इनको फिर बिगाड़ने का मौक़ा तो नहीं दे सकते। इनके प्राण कोई नहीं लेता। इनको भी औरों की भांति काम करने का पूरा अवसर है, पर यदि वे इस अवसर से लाभ उठाने का अर्थ यह लगायें कि उनको नये शासन की जड़ खोदने दी जाय तो ऐसी हठधर्मी का लिहाज़ नहीं किया जा सकता।

इस ज़माने में काम करनेवालों को मज़दूरी मिलेगी। मज़दूरी के दो रूप हो सकते हैं। रूस में भी दोनों चलते रहे हैं। कुछ मज़दूरी तो नक़द रुपयों (या उनकी जगह काग़ज़ की मुद्रा) में मिलेगी। इससे लोग अपने-अपने शौक की चीज़ें, जैसे पुस्तकें या चित्र या बाजा या बाइसिकिल खरीद सकते हैं। शेष मज़दूरी पण्य के रूप में दी जायगी। प्रत्येक श्रमिक को एक सार्टीफिकेट मिल जायगा, जिसको दिखलाकर वह अन्न-वस्त्र आदि के भण्डारों से एक निश्चित परिमाण में इन आवश्यक चीज़ों को प्राप्त कर सकता है।

मज़दूरी में आज जैसी कुव्यवस्था न होगी। राज यह स्वीकार करेगा कि समुदाय के जीवन के लिए सभी मनुष्यों की आवश्यकता है। न तो सभ्य सामूहिक जीवन गणित के अध्यापक के बिना चल सकता है, न सड़क पर झाड़ू देनेवाले के बिना। जो भी व्यक्ति अपने श्रम की कमाई खाता है और कोई ऐसा काम करता है जिसका सामूहिक जीवन में उपयोग है तो उसके योगक्षेम का भार समुदाय पर है। यह भी मानना होगा कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताओं में भेद होते हुए भी बहुतसे अंशों में सभी मनुष्य बराबर हैं। अतः समाजवादी का यह आग्रह है कि देश-काल देखकर ऐसी मज़दूरी नियत होनी चाहिए जिससे जीवन-यात्रा चल सके। उससे कम पारिश्रमिक या वेतन देना और लेना क़ानून से जुर्म क़रार देना चाहिए। इस नीचे की सीमा पर ही वेतन और पुरस्कार क़ायम होंगे।

मजदूरी या वेतन निश्चित करने में एक ही सिद्धांत से काम लिया जा सकता है बराबर काम के लिए बराबर मज़दूरी दी जाय। इसीको दूसरे शब्दों में यों कहते हैं, जो जैसा और जितना काम करे उसको वैसी और उतनी मज़दूरी दी जाय। यह सिद्धान्त आजकल भी माना जाता है, यद्यपि इसका व्यवहार ठीक-ठीक नहीं किया जाता। लोग इसको न्यायमूलक समझते हैं, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि इससे सबके स्वत्वों की उचित रक्षा होती है। परन्तु विचार करने से प्रतीत होता है कि न इसमें न्याय है, न सबके स्वत्वों की रक्षा। जैसा कि 'क्रिटीक आव दि गोथा प्रोग्राम' में मार्क्स ने कहा है, बराबर श्रम और सामूदायिक पराय भराडार में बराबर भाग (अर्थात् बराबर मज़दूरी) की अवस्था में वस्तुतः एक व्यक्ति को दूसरे से अधिक मिलता है, एक व्यक्ति दूसरे से अमीर होता है। इन दोषों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि स्वत्व बराबर नहीं किन्तु विषम हों। सुनने में तो यह बात आश्चर्य की प्रतीत होती है कि समता से अन्याय और विषमता से न्याय होता है, पर जैसा कि लेनिन ने कहा है, "हक़ का अर्थ है एक ही मानदराड से विभिन्न व्यक्तियों को, जो एक दूसरे के बराबर नहीं है, नापना। इसीलिए 'बराबर हक़' वस्तुतः बराबरी का उच्छेदक और अन्याय है!"

आज से कुछ काल पहले प्रमुख समाजवादियों को यह आशा थी कि बहुत शीघ्र विश्वक्रान्ति होजायगी और सारी पृथ्वी पर समाजवादी व्यवस्था क़ायम होगी। इच्छा तो ऐसी अब भी है, पर उसके शीघ्र फलीभूत होने की आशा अब उतनी तीव्र नहीं है। जबतक वह दिन नहीं आता तबतक जो देश अपने सामूहिक जीवन को समाजवादी सांचे में ढालना चाहेगा उसे बलवान पूंजीवादी देशों के मुक़ाबिले के लिए तैयार रहना पड़ेगा। वह उनका प्रत्यक्षरूप से कुछ न बिगाड़ता हो, पर किसी भी देश में समाजवादी शासन का सफल होना पूंजीवादियों को बुरा लगता है। वे समझते हैं कि इससे लोगों का विश्वास समाजवाद की व्यवहार्यता पर जम जाता है। इसलिए प्रत्येक समाजवादी देश को प्रत्येक पूंजीवादी देश अपना

नैसर्गिक शत्रु समझता है। आज रूस को इसका अनुभव हो रहा है। इस विद्वेष का सामना करने के लिए समाजवादियों को अगत्या राष्ट्रीय नीति बरतनी पड़ेगी। समाजवाद का सिद्धान्त अन्तरराष्ट्रीय है, पर समाजवादी शासन को कई अंशों में राष्ट्रीय सरकारों का अनुकरण करना होगा। दूसरों के स्वत्व का अपहरण वे न करेंगे, पर अपनी रक्षा के लिए बलवान सेना रक्खेंगे। सारे राष्ट्र को सैनिक शिक्षा ग्रहण करनी होगी। इतना ही नहीं, पूंजीवादी देशों में से कुछ के साथ संधि और मैत्री करने की भी आवश्यकता पड़ सकती है। उनका लक्ष्य यह होगा कि पराधीन देशों को स्वाधीन बनाने में सहायता दें और लोकतंत्रात्मक सरकारों को अधिनायकों के चंगुल में फंसने से बचावें। राष्ट्रीय अन्तरराष्ट्रीय भावों का समन्वय कठिन होते हुए भी असम्भव नहीं है, क्योंकि समाजवाद राष्ट्रीय पराधीनता का प्रबल विरोधी और राष्ट्रीय संस्कृति की रक्षा का समर्थक है।

परन्तु अपनी वैदेशिक नीति में सफलता प्राप्त कर लेने और पहले से इंगित दिशाओं में उन्नति कर लेने से ही कोई देश अपने को पूरा समाजवादी नहीं कह सकता। ये बातें समाजवाद की ओर ले जाती हैं और वर्त्तमान पूँजीशाही प्रथा से तो बहुत दूर हैं, पर शुद्ध समाजवाद के सिद्धान्त के तौलने से इनका पलड़ा हलका, बहुत हलका, ठहरता है। आज उन्नीस वर्ष के प्रयोग के बाद भी रूस का यह दावा नहीं कि उसने पूर्णरूपेण समाजवादी व्यवस्था क़ायम करली है। जो कुछ अबतक हुआ है, वह मार्ग के बड़े स्टेशन के तुल्य है। इसलिए इस अवस्था को समाजवादी व्यवस्था का प्रथम सोपान कहते हैं।

समाजवादी व्यवस्था क्रान्ति के बाद भले ही स्थापित हो, पर उसका जन्म पूँजीवादी व्यवस्था के गर्भ से ही होगा, अतः वह उसके दोषों से एकदम मुक्त नहीं हो सकती। वर्त्तमान अतीत से अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता।

इस समय कामों का विभाग ऐसा है कि उसमें कोई ऊँचा कोई नीचा माना जाता है। कामों का बँटवारा आगे भी रहेगा, पर यह ऊँचे-नीचे का भाव क्रमशः मिट जायगा।

इसके लिए शिक्षा की आवश्यकता है। शिक्षा पुस्तकों से तो मिलती ही है, उसका बहुत बड़ा साधन मनन है। सिद्धान्तों पर विचार करना, अच्छे लोगों को काम करते देखना, सामुदायिक प्रयोगों की सफलता और असफलता के कारणों पर गौर करना, दूसरों के साथ मिलकर सार्वजनिक हित के कार्य करना, ये सब शिक्षा के साधन हैं। सच्ची शिक्षा का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति की कर्त्तव्य-बुद्धि जागती है। जहाँ साधारण मनुष्य को कर्त्तव्य-पथ पर लगाने के लिए पुरस्कार और दण्ड की ज़रूरत पड़ती है वहाँ सच्छिक्षा-मण्डित मनुष्य अपनी आन्तरिक प्रेरणा से काम करता है। उसकी स्वार्थबुद्धि तिरोहित हो जाती है और उसे स्वहित और लोकहित में कोई भेद नहीं प्रतीत होता। वह 'सर्वभूतहितेरत' इसलिए नहीं होता कि उसको इहलोक या परलोक में किसीको खुश करना है, वरन् इसलिए कि लोकसंग्रह उसकी बुद्धि का स्वाभाविक अभ्यास होगया है। उसको यह ख़याल भी नहीं आता कि मैं दूसरों का उपकार करने जा रहा हूँ, वरन् समाजोपयोगी काम उसको आप ही आकृष्ट करते हैं।

कुछ लोगों को यह शंका रहती है कि समाजवादी व्यवस्था को पुरस्कारों का अभाव विफल कर देगा। आज जो मनुष्य कोई नई बात खोज निकालता है या अधिक परिश्रम करता है उसको अधिक रुपये मिलते हैं और वह इन रुपयों को बढ़ा सकता है। यह प्रलोभन लोगों से काम कराता है। समाजवादी व्यवस्था में बहुत रुपया भी न लगेगा, पूँजी भी न जुट सकेगी; फिर कोई अपना दिमाग क्यों लगायेगा, या दूसरों से अधिक परिश्रम क्यों करेगा ? इसका उत्तर यह है कि प्रलोभन पर काम करना अशिक्षा और असंस्कृति का द्योतक है। संसार के जितने स्थायी काम हुए हैं वे रुपये के लोभ से नहीं हुए हैं। न तो व्यास को किसीने रुपये दिये थे न शंकराचार्य को। फिर उन्होंने अपने अपूर्व दार्शनिक ग्रन्थ क्यों लिखे ? चरक को किस विश्वविद्यालय में नाकर मिली और वाल्मीकि के हाथ पर किस प्रकाशक ने चार पैसे रक्खे ? तुलसीदासजी ने क्या यह झूठ कहा है कि उन्होंने रामायण को 'स्वान्तः सुखाय' लिखा ? यह कहने से काम नहीं चल

सकता कि ये असाधारण महापुरुष थे। हम इस बात को स्वीकार करते हैं, पर यह भी देखते हैं कि ये महापुरुष ही सब लोगों को इन्द्रिय-निग्रह, अस्तेय निर्लोभता आदि का उपदेश देते हैं। इसका अर्थ यह है कि इनकी राय में साधारण मनुष्य का अन्तःकरण सदा के लिए पतित और स्वार्थी नहीं है। यदि उसपर का कषाय साफ़ कर दिया जाय तो वह निर्मल हो सकता है। समाजवादी भी ऐसा ही मानता है। उसको मनुष्य की नैसर्गिक पवित्रता पर विश्वास है। पर वह देखता है कि कुशिक्षा और बुरी परिस्थिति ने लोगों को ऐसा लालची बना दिया है कि बिना पैसे के कोई काम नहीं करना चाहते। यदि परिस्थिति में सुधार होजाय, अर्थात् शोषण मिट जाय और सबके लिए मानवोचित्त सुविधायें मिल जायँ तथा उसके साथ ही उत्तम शिक्षा दी जाय तो फिर प्रलोभनों की आवश्यकता न रहेगी, प्रत्युत लोग शौक से और केवल लोकहित के भाव से प्रेरित होकर अपनी पूरी शक्ति-भर काम करेंगे। न कोई शारीरिक श्रम से जान चुरायेगा, न बुद्धि से काम लेने से रुकेगा। जब काम में ऊँच-नीच का भाव मिट जायगा, जब काम लोकसेवा की दृष्टि से किया जायगा, जब श्रम जीवन का आवश्यक अंग बन जायगा और सब लोग स्वतः अपनी पूरी योग्यता और शक्तिभर काम करने लग जायँगे, उसी समय सच्ची लोकतंत्रता सम्भव होगी, क्योंकि उसी समय मनुष्य सचमुच मनुष्य होगा और सब मनुष्यों का बराबर माना जाना सम्भव होगा। बराबरी का अर्थ यह नहीं है कि किसी में विशेष प्रतिभा नहीं होगी या प्रतिभा वालों की पूछ न होगी। वस्तुतः प्रतिभा की तभी कद्र हो सकती है जब ईर्षा-द्वेष का तिरोभाव हो और प्रतिभावान व्यक्ति समुदाय का विशेष समर्थसेवक, अथच सम्मान्य माना जाय। उसी समय मज़दूरी के अन्याय का भी अन्त होगा। जब बिना किसी दबाव या लालच के सभी अपने सामर्थ्यभर श्रम कर रहे होंगे, उस समय किसीके श्रम की नाप-तौल करने की आवश्यकता न होगी।

उस समय समाजवादी व्यवस्था उन्नत अवस्था को प्राप्त होगी। इस अवस्था को दूसरा सोपान कहते हैं।

इसके बाद सरकार का क्या रूप होगा ? न तो उस समय कोई ऐसा वर्ग रह जायगा जिसका दमन करना हो, न लोगों से ज़बरदस्ती काम लेना पड़ेगा, न भोग्य वस्तुओं का मज़दूरी के रूप में वितरण करना रह जायगा; फिर सरकार के ज़िम्मे क्या काम रहेगा ? उद्योग-व्यवसाय की व्यवस्था की तब भी आवश्यकता रहेगी। यदि कोई दुष्ट प्रकृति या श्रम से जान चुराने-वाला पैदा हो ही गया तो उसका नियंत्रण करना होगा। पर जहाँ लोकमत इतना जाग्रत होगा वहाँ इन कामों में सबको अभिरुचि होगी और किसी विशेष संगठन की आवश्यकता न होगी। जनता विभिन्न कामों के लिए समितियाँ और परिषदें बनायेगी, पर इन संस्थाओं की समता आजकल की दण्डधारी सरकारों से न होगी। काम के अभाव से सरकार आप ही न रह जायगी। परन्तु जब सरकार ही नहीं तो राज कैसा ? राज का सत्ता का भी लोप हो जायगा और एंगेल्स के शब्दों में उस चरमावस्था में बिना किसी प्रयास के "राज मुर्झाकर झड़ जायगा।".

वह दिन कब आयगा, यह हम नहीं कह सकते। कभी आयगा भी या नहीं, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जैसा कि लेनिन ने 'दि स्टेट एण्ड रेवोल्यूशन' में कहा है, "यह बात किसी समाजवादी के दिमाग़ में नहीं आई कि वह यह वादा करे कि यह चरमावस्था अवश्य आ जायगी।" पर द्वन्द्व न्याय के अनुसार अबतक की प्रगति की जो कुछ आलोचना की जा सकती है, उससे ऐसी आशा और दृढ़ आशा की जा सकती है कि पृथ्वी के भाग्य जागेंगे और वह उस दिन को देखेगी। अभी वह काल बहुत दूर है, परन्तु क्षितिज पर उसकी धुन्धली आभा देख पड़ने लगी है।

: ११ :

गाँधीवाद बनाम समाजवाद

[श्री जयप्रकाशनारायण]

गांधीजी ने अबतक ब्योरेवार और सीधे तौर पर यह नहीं बताया है कि उनके स्वराज्य के अन्दर समाज का निर्माण किस आधार पर होगा,

वह कैसा होगा; इसलिए यह कहना मुश्किल है कि समाजवाद के बदले में वह हमें क्या देने जा रहे हैं; लेकिन उनके कुछ वक्तव्य हैं, उनके कुछ लेख हैं, जिनसे इस सम्बन्ध में कुछ अन्दाज़ लगाया जा सकता है। उनके अनुयायियों की नज़र में ये चीज़ें समाजवाद की जगह एक नये ढंग के समाज का खाका हमारे सामने रखती हैं ; वे तो यहां तक कह बैठते हैं कि 'गांधीवाद ही हिन्दुस्तान के लिए सच्चा समाजवाद है।' गांधीजी ने भी जब-तब 'स्वदेशी समाजवाद' या 'हिन्दू धर्म का मौलिक विचार' 'भारत की अपनी प्रतिभा' ऐसी शब्दावलियों का व्यवहार किया है। इसका मतलब यह होता है कि शायद उनकी यह धारणा है कि उनका यह 'स्वदेशी समाजवाद' हिन्दुस्तान की जलवायु के लिए पाश्चात्य ढंग के समाजवाद की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है।

पहले हम यही विचार करलें कि गांधीजी समाज के निर्माण के बारे में जो विचार रखते हैं क्या वह सच्ची 'स्वदेशी' और 'भारतीय प्रतिभा' का चमत्कार है ? हमें तो ऐसा नहीं दिखाई पड़ता। पाश्चात्य देशों के बहुतेरे लेखकों और विचारकों ने ठीक गांधीजी के ढर्रे पर लिखा है और कहा है। उनकी तर्क-प्रणाली का मूलाधार एक है—हां, किसी ने किसी पर ज़ोर दिया है, किसी ने किसी पर। 'वर्ग-युद्ध' एक बेवकूफ़ी की बात है; पूंजी और मज़दूरी एक-दूसरे पर निर्भर और एक-दूसरे के लिए आवश्यक है; **क्रान्ति तो ध्वंसात्मक है**; समाज के द्वन्द्वात्मक वर्गों का समन्वय क्रान्ति की अपेक्षा कहीं अच्छा है। मुनाफ़ा, मज़दूरी और क़ीमत पर विचारपूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए। ज़मींदार और पूंजीपति धन और ज़मींदारी के ट्रस्टी हैं—ये बातें पाश्चात्य देशों के प्रोफ़ेसरों, विचारकों और धर्मोपदेशकों ने बार-बार दुहराई हैं। कुछ दिनों पहले इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध लेखक एच० जी० वेल्स और सोवियट रूस के डिक्टेटर स्टालिन में जो बातें हुई थीं, उसमें वेल्स ने स्टालिन के समक्ष यही दलीलें पेश की थीं, जो गांधीजी हमारे यहां कहा करते हैं। उसने कहा था कि यह वर्ग-युद्ध बेवकूफ़ी और खुराफ़ातों से भरी हुई चीज़ हैं; पूंजीवाद का खात्मा

वर्गों के हितों के समन्वय से ही सिद्ध हो सकता है, ज़रूरत है तो सही नेतृत्व की। गांधीजी पूंजीपतियों के हृदय का परिवर्तन चाहते हैं; वेल्स साहब भी यही चाहते हैं।

स्वर्गीय रैमज़े मैकडानल्ड अपने समाजवादी दिनों में वर्ग-युद्ध के विरुद्ध थे। एक जगह उन्होंने लिखा है—पूंजी और मज़दूरी दोनों को समाज की सेवा करनी है और समाज के नेताओं का यह कर्त्तव्य है कि वे इन दोनों में आज जो संघर्ष है उसको खत्म करने और उनमें समन्वय स्थापित करने के तरीके ढूंढें। निःसन्देह, अपने इस समाजवाद को मैकडानल्ड इंग्लैण्ड का 'स्वदेशी समाजवाद' कहते थे, लेकिन सभी स्वदेशी समाजवादियों की तरह इसकी क्या गति हुई, यह जग-जाहिर है। मैकडानल्ड साहब ने कट्टरपंथियों और पूंजीपतियों के स्वार्थ में अपने समाजवाद को विलीन कर दिया।

'ज़मींदार और पूंजीपति ट्रस्टी हैं'—इस सिद्धान्त के शुद्ध भारतीय होने पर बहुत नाज़ किया जाता है और कहा जाता है कि हमारे देश की अहिंसा-नीति के यह बिलकुल अनुकूल है, लेकिन विलियम गोडविन ने अपनी "पोलिटिकल जस्टिस" नामक पुस्तक में इसका प्रयोग किया है। उसने लिखा है—"सभी धार्मिक सदाचारों का एक ही आधार है और वह है धन के सम्बन्ध में किया गया अन्याय; इसलिए सभी धर्मों के प्रवर्तकों ने अपने धनी चेलों से कहा है कि उन्हें यह समझना चाहिए कि जो धन उनके पास है, उसके वे ट्रस्टी हैं, उसमें खर्च के एक-एक ज़र्रे के वे जवाबदेह हैं। उनका काम केवल व्यवस्था करना है; किसी भी हालत में वे उसके मालिक या प्रभु नहीं हैं।" देखिए, गोडविन आज से डेढ़ शताब्दी पहले हुए थे, अतः जो लोग गांधीजी के इस सिद्धान्त को हिन्दुस्तान का शुद्ध स्वदेशी सिद्धान्त कहकर खुश होते हैं; उन्हें इस तरह खुश होने का कोई सबब नहीं है।

साफ़ बात तो यों है कि सुधारवाद और क्रान्तिवाद में शुरू से ही झगड़ा है। गांधीजी के जो विचार हैं, वे सुधारवादी हैं—उसकी भाषा

भले ही हिन्दुस्तानी हो, लेकिन उसका मूल तो अन्तर्राष्ट्रीय है। सुधारवाद का सबसे मुख्य काम यह है कि वह समाज की प्रचलित व्यवस्था को क़ायम रखना चाहता है। उस व्यवस्था को खत्म करनेवाली शक्तियों को देखते ही वह चौकन्ना होजाता और उन्हें नपुंसक बना देना या सदा के के लिए चुप कर देना चाहता है, इसीलिए वह सदा स्वार्थों के समन्वय के राग अलापा करता है। गांधीजी ज़मींदारों और पूंजीपतियों से यही कहा करते हैं कि आप अपने किसानों और अपने मज़दूरों की हालत सुधारिए, उनसे अच्छा सम्बन्ध स्थापित कीजिए। बस, फिर न कहीं यह कम्बख्त वर्ग-युद्ध रहेगा, न असंतोष रहेगा, न विद्रोह रहेगा, न उखाड़फेंक रहेगा। सुधारवाद का काम समाज में न्याय की स्थापना नहीं है। उसका काम है समाज में जो दरारें पड़ गई हैं, उन्हें किसी तरह मूंद देना।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना के बाद गांधीजी से अवध के ताल्लुकेदारों ने भेंट की थी और समाजवादी पार्टी के जमींदारी, पूंजीशाही और व्यक्तिगत सम्पत्ति उठा देने के निर्णय पर सख़्त नाराज़गी ज़ाहिर करते हुए उनसे संरक्षण मांगा था। उस अवसर पर गांधीजी ने जो कुछ कहा था, हम उसके कुछ उद्धरणों को ही देखें। उन्होंने कहा था—"मैं जिस राम-राज्य का स्वप्न देखता हूँ, उसमें राजाओं और भिखारियों—दोनों के अधिकार सुरक्षित रहेंगे।"

सच पूछिए तो गांधीजी की सामाजिक 'फिलासफी' का यही मूलमंत्र है। उनके स्वप्न में रामराज्य में राजाओं के साथ-साथ बेचारे भिखारी भी विद्यमान रहते हैं। इसमें शक नहीं कि गांधीजी उन भिखारियों के हक की हिफाजत करना चाहते हैं। यद्यपि हमें यह भी नहीं बताते कि उन बेचारों के हक क्या होंगे और उन्हें लेकर वे अभागे क्या करेंगे; लेकिन सबसे मनोरंजक, नहीं, नहीं, हैरत में डाल देने वाली बात तो यह है कि गांधीजी के उस सपने के रामराज्य में भी कुछ लोग भिखारी बने ही रहेंगे!

'रामराज्य'—और 'भिखारी' और राजा दोनों का! क्यों नहीं? भला

भिखारी नहीं रहेंगे, तो ये 'उन्नत विचार वाले' 'उदार', 'दानी' अपनी आत्मा की महान् उदारता और सदाशयता का परिचय देकर किस तरह मानवी स्वभाव का हिन्दू आदर्श पेश करेंगे !

भला समाज में कोई आदमी भिखारी क्यों रहे ? समाजवाद का यह मुख्य प्रश्न गांधीजी के दिमाग में कभी उठा ही नहीं—उठ भी नहीं सकता, क्योंकि गांधीजी की नीति के सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में कुछ लोग भिखारी रहें।

कुछ लोग कहते हैं, गांधीवाद और समाजवाद में अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का भेद है। यह बात ग़लत है। भेद है तो यह ऊपर का सवाल। समाजवाद आर्थिक असमानता के कारणों का अनुसन्धान करता है। राजाओं, ज़मींदारों, पूंजीपतियों और भिखारियों की उत्पत्ति के मूलाधारों की खोज-ढूंढ करता है और खोज-ढूंढ करता है मानवी शोषणों के रहस्यों की। इस खोज-ढूंढ और जाँच-पड़ताल के बाद जब समाजवादी उसकी जड़ का पता लगा लेता है, तो उसे उखाड़ फेंकता है; वह सामाजिक बुराइयों के मूल पर ही कुठाराघात करता है।

लेकिन गांधीवाद इन प्रश्नों पर विचार करना भी ज़रूरी नहीं समझता। उसके मन में तो यह सवाल भी नहीं उठता कि क्या बात है कि मुट्ठी भर लोग राजा, ज़मींदार और पूंजीवादी बनकर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं और बाकी पूरा समाज या तो भिखारी बन चुका या बनने की तैयारी में है ? वह समाज की नीची और ऊंची सतह को स्थायी मान लेता है और फकत यही चाहता है कि ऊपर की सतह के लोग नीची सतह के लोगों से ज़रा रहम का बर्ताव रक्खें। उसमें यह हिम्मत नहीं होती कि वह इसकी जांच करे कि जमींदारों और पूंजीपतियों का यह धन आता कहां से है। वह इतना ही कहकर संतोष कर लेता है कि 'भाई, अपनेको इन ग़रीबों का ट्रस्टी समझो और धन का उपयोग इनके हित में ही करो।'

एक समाजवादी के लिए यह फिलासफी धोखेबाज़ी है—धोखेबाज़ी अपने प्रति और शोषित जनता के प्रति। हम समाजवादी डंके की चोट

यह कहते हैं कि जमींदारों और पूँजीपतियों का यह धन किसानों और मज़दूरों की मेहनत से ही पैदा हुआ है, इसलिए प्राउधन के कथनानुसार 'चोरी का माल' है। इस चोरी को छिपाना, इसे बेपूछेताछे चलने देना, नहीं, इसपर पवित्रता की पुट देना तो निःसन्देह धोखेबाज़ी है, भले ही यह धोखेबाज़ी आप अनजाने ही क्यों न कर रहे हों।

ये ऊँची सतह के लोग केवल चोरी के ही अपराधी नहीं हैं, ये तो हिंसा के भी अपराधी हैं; क्योंकि इस चोरी के माल को वे हिंसा के बल पर ही अपने क़ब्ज़े में लिए हुए हैं। अगर सङ्गठित हिंसा का और उसको सही साबित करने वाले वर्गगत क़ानून का भय न हो, तो किसान और मज़दूर कल ही जमीन और कारख़ानों पर कब्ज़ा करलें।

राजाओं, ज़मींदारों और पूँजीपतियों के अधिकारों पर चूँचरा न करके गाँधीजी ने इस बड़े पैमाने पर और सङ्गठित रूप में होने वाली चोरी और हिंसा पर चुप-चाप मोहर लगादी है। चुप-चाप ही नहीं, उन्होंने तो खुले आम और ऐलानिया तौर पर इसको मान लिया है। उन्होंने तो अवध के ज़मींदारों से साफ़-साफ़ कह दिया है कि यदि कोई उन ज़मींदारों की सम्पत्ति को लेना चाहेगा, तो वह (गाँधी जी) खुद लड़ेंगे। और इसके कुछ दिन पहले ही उन्होंने अहमदाबाद के पूँजीपतियों से कह दिया था कि उन्हें अधिकार है कि वे धन इकट्ठा करें। गाँधीजी ने इन धनियों से यह भी कहा कि वे इस धन को किसानों और मज़दूरों के ट्रस्टी की हैसियत से ही रक्खें; इस धन में उनका बराबर का हिस्सा है। इस धन को वे ग़रीबों के हित के लिए ही ख़र्च करें और वे उन्हें एक परिवार के सदस्यों की तरह ही मानें। यही गाँधीजी का शुद्ध स्वदेशी समाजवाद है, जिसमें मज़दूरों और पूँजीपतियों, जमींदारों और किसानों में हार्दिक सहयोग होगा।

थोड़े ही ग़ौर से देखने पर इस कथन की अस्पष्टता और परस्पर विरोध प्रकट हो जाता है। मान लीजिए कि जमींदार 'ट्रस्टी' है। अब सवाल यह उठता है कि धन के किस हिस्से को वह ट्रस्ट समझे—समूचे को या किसी हिस्से को। अगर किसी हिस्से को, तो वह हिस्सा क्या हो

और उसे कौन निश्चय करेगा ? अगर उसका किसान उसके धन का बराबर का हिस्सेदार है, तो इस बराबर के ठीक मानी क्या हैं ? क्या इसका मतलब यह है कि धन का आधा हिस्सा जमींदारों का है और आधा किसानों का ? या इसका मतलब यह है कि जमींदार और किसान दोनों ही मिलकर बराबर-बराबर के हिस्सेदार हैं ? फिर कोई हिस्सेदार 'ट्रस्टी' किस तरह हो सकता है ? 'एक ही परिवार के व्यक्ति' का क्या मतलब ? क्या इसका मतलब यह हुआ कि किसानों का यह हक़ है कि वे जमींदारों के महलों में डेरा डालें और उनकी चमकती सवारियों पर शहर की सैर करें ? 'हार्दिक सहयोग' का ही क्या मतलब ? यह सहयोग कौन लायगा ?

ये सवाल ऐसे नहीं हैं कि इन्हें यों हल्के-हल्के 'नज़र-अन्दाज़' कर सकें। फिर भी वज़नदार और अहम सवाल हैं।

क्या किसानों और मज़दूरों का धन पर उतना ही अधिकार है, जितना कि उनके मालिकों का ? गाँधीजी के पास इसको मान लेने का कौन-सा प्रमाण है ? यदि यह कहा जाय कि किसानों और मजदूरों का बराबर हिस्सा इसलिए है कि वे ही धन पैदा करने वाले हैं, तब वे अपनी पैदा की गई चीज़ को दूसरों के हाथ में क्यों सौंप दें ? क्यों उनसे कहा जाय कि इन्हें दूसरों के हाथ में सौंप दो, जो तुम्हारे लिए ट्रस्टी का काम करेंगे ? क्या इसलिए कि जिसमें ये बड़े लोग अपनी उदारता का विपुल प्रदर्शन करते फिरें ?

हम इस सवाल को दूसरे छोर से ही लें। ये धनी लोग ही ट्रस्टी का काम क्यों करें ? वे ऐसा क्यों न कहें कि यह धन तो हमारा है, इसे हमने अपने दिमाग और अपनी पूँजी से पैदा किया है और किसीको इस पर दावा करने का दम नहीं है ?

यह धनियों का धन उनका अपना नहीं है, तो यह कौन-सा न्याय है कि उन्हें उसे रखने और उसके बल पर उदारता दिखलाने के लिए उत्साहित किया जाय ? और अगर यह उनका सही तरीक़े से अर्जित धन

है, तो फिर किसी को क्या हक़ है कि कहे कि इसे तुम दूसरे को दे दो ? अगर ग़रीब भूखों मरते हैं, तो मरने दीजिए। इसमें धनी बेचारोंका क्या कसूर ?

इस तरह यदि हम ब्योरेवार देखते हैं, तो गाँधीवाद कायरतापूर्ण आर्थिक विश्लेषण, शुभ और महान् सदिच्छाओं और प्रभावशून्य नैतिकता की एक खिचड़ी मात्र है।

उपाय केवल दो ही हैं। या तो मान लीजिए कि धनियों का यह धन अन्याय से उपार्जित है और तब उनसे मनमाना वसूल कीजिए; या मान लीजिए, कि उन्होंने न्यायपूर्वक उसे उपार्जित किया है, इसलिए भलेमानस की तरह चुप्पी मार कर बैठिए। इसका तो कोई मतलब नहीं होता कि आप ग़रीबों को फ़कत यह जताने के लिए कि मैं तुम्हारी सुध भूला नहीं हूँ, चिकनी-चुपड़ी उदारता की बातें कहा करें।

सवाल नैतिकता या सदाचार का नहीं है, यह समस्या तो धन और उसके उत्पादन के वैज्ञानिक विश्लेषण की है। इस समस्या का हमें साहस से सामना करना चाहिए, न कि भावुकता के बुर्के में उसे ढँक देना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने पूँजीवादी धन का विश्लेषण कर और यह साबित करके कि धन कमाने के लिए मज़दूरों का शोषण आवश्यक हो जाता है, मानवता का महान् उपकार किया है। पूँजीपतियों के टुकड़ों पर पलने वाले प्रोफ़ेसर उसे इस अपराध के लिए आजतक भी क्षमा नहीं कर सके हैं।

एक बात और रह जाती है। इस ट्रस्टी के सिद्धान्त को आखिर काम में किस तरह लाया जायगा ? गाँधीजी धनियों को ग़रीबों के ट्रस्टी बनने के लिए किस तरह प्रभावित करेंगे ? क्या उनकी नैतिकता को अपील करके, उनके दिलों के अन्दर पहुँच कर ? उन्होंने उन जमींदारों से कहा कि 'मैं चाहता हूँ कि मैं आपके दिलों में समाऊँ और उन्हें परिवर्तित करूँ, जिससे आप यह अनुभव कर सकें कि वास्तव में यह धन आपकी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं, वरन् किसानों का ट्रस्ट है और आप उन्हींकी भलाई में इसको खर्च करेंगे।'

हमें शक है, हमारे कुछ भाई इसे भी भारतीय संस्कृति की देन समझेंगे। लेकिन सचाई यह है कि दुनिया के सभी बड़े धार्मिक उपदेशकों ने इसी तरीक़े का इस्तेमाल किया था। उन उपदेशकों को इसमें कितनी सफलता मिली, इसका साक्षी इतिहास है। अब गाँधीजी अपनी जादू की छड़ी लेकर आये हैं और एक नया इन्द्रजाल हमें दिखलाना चाह रहे हैं।

मुझे मालूम नहीं कि उन ज़मींदारों के दिलों को गाँधीजी की बात बदल सकी या नहीं। ये ज़मींदार बड़े लाट और छोटे लाटों से भी इसी तरह मिलते और गिड़गिड़ाते रहे हैं। हाँ, यह तो साफ़ ही है कि गाँधीजी की बातचीत से उन्हें तसल्ली ज़रूर हुई होगी और उनमें से कुछ तो गाँधीवाद के कट्टर समर्थक बन गये हैं। गाँधीवादी बनने में उन्हें लगता ही क्या है? बस मौक़े-बेमौक़े चन्दा दे देना, जिसकी रक़म भी उन्हें वापस मिल ही जाती है। अख़बारों में उनकी तारीफ़ें और तसवीरें निकलती हैं और इस प्रशंसा का प्रयोग वे अपनी व्यापारिक तरक्की के लिए करते हैं।

गाँधीजी ने उस मुलाक़ात में यह भी कहा है कि उन्होंने पूँजीपतियो से भी कहा है कि वे ऐसा सदा अनुभव करें कि ये मिलें केवल उनकी नहीं हैं, वरन् मज़दूरों के भी इनमें हिस्से हैं। अफ़सोस की बात यह है कि हमें इसका पता नहीं कि गाँधीजी को इस दशा में सफलता मिली है या नहीं। गाँधीजी का सम्बन्ध अहमदाबाद के मजदूर-संघ से भी है। क्या वह या उनके कोई अनुयायी हमें बतायेंगे कि संघ और मिल-मालिकों के संघर्ष के दरम्यान इस तरह के हृदय-परिवर्तन का कोई लक्षण दीख पड़ा है? क्या यह ठीक नहीं है कि ये मिल-मालिक जब कभी झुके हैं, तो संघ की शक्ति के डर से, आम हड़ताल के डर से? गाँधीजी के समझौतों को तो उन्होंने बार-बार तोड़ा है, यद्यपि उन समझौतों की शर्तें ऐसी कभी नहीं रही हैं कि मिल-मालिकों को कोई यथार्थ त्याग करना पड़े।

: १२ :

गाँधीवाद या मार्क्सवाद

[श्री राहुल सांकृत्यायन]

मेरी राय में हिन्दुस्तान की सर्वसाधारण जनता को उन्नति की ओर ले जाने के लिए इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं कि हम साम्यवाद या सोशलिज्म की ओर अग्रसर हों। वही एक ऐसा मार्ग है, जिससे अब हम आगे बढ़ सकते हैं।

मैंने बहुत दिनों तक परिश्रम के साथ भारत में प्रचलित पूँजीवाद और जमींदारी की प्रथा का अध्ययन किया है। खासकर अपने प्रान्त बिहार में मैंने इस सम्बन्ध में गम्भीर निरीक्षण भी किया है। अन्त में मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि यदि हम भारतीय जनता के उद्धार के इच्छुक हैं, तो पूँजीवाद की इन प्रथाओं का हमें अन्त करना ही होगा। जबतक इनको हम जड़ से उखाड़कर नहीं फेंक देते, जनता के कष्ट किसी प्रकार भी दूर नहीं हो सकते। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इन प्रथाओं में अब कोई जीवन-शक्ति शेष नहीं रह गई है। अब इन्हें बदलना ही पड़ेगा। उद्योग-धन्धों की दृष्टि से अभी देश में यद्यपि कुछ भी नहीं हुआ, लेकिन देश शीघ्र ही अपना उद्योगीकरण करेगा, इसलिए यह आवश्यक है कि जमींदारी प्रथा के साथ ही साथ मिलों से फैल रहे पूँजीवाद का अभी से नाश प्रारम्भ कर दिया जावे।

गाँधीवाद ने देश में जो जागृति फैलाई है, उससे कौन इन्कार कर सकता है ? मैं समझता हूँ कि गाँधीवाद ने जनता को बहुत लाभ पहुँचाया है और उसीका यह फल है कि हम आज जाग उठे हैं, और हमारी जनता भी अपने अधिकारों को पहचानने लगी है। इन सब बातों को स्वीकार करते हुए भी मैं समझता हूँ, कि गाँधीवाद ने अधिकांश में अपना कार्य समाप्त कर लिया। उसकी समाप्ति कर जनता को साम्यवाद की ओर अग्रसर करना चाहिए। इसीमें देश के लोगों का कल्याण है।

गाँधीवाद से भय

मुझे भय है कि गाँधीवादियों तथा काँग्रेस ने जो नीति आज इख्तियार करली है, वह जनता को आगे नहीं ले जा सकेगी। इससे वह पूँजीपतियों ज़मींदारों व मिल-मालिकों की सहायक हो जावेगी और इन लोगों का सर्वसाधारण जनता पर प्रभुत्त्व बढ़ाने का कारण बन जावेगी। उच्च काँग्रेसी नेताओं के लिए इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं कि वे निःसंकोच तथा निर्भय होकर साम्यवादी हल को स्वीकार करलें और उसके सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप में जनता के सम्मुख पेश करें। मुझे सन्देह है कि पूँजीवादीवर्ग के काँग्रेसी नेता जनता के प्रति अपनी वफ़ादारी क़ायम रख सकेंगे। बहुत सम्भव है कि उनपर रोक-थाम नहीं रक्खी गई तो वे जनता को ऐन मौक़े पर धोखा दे दें और उसके अधिकारों को कुचल डालें। काँग्रेस का इतिहास और नीति नहीं बदली, तो मज़दूर और किसान जनता के दुःख दूर होने की कोई सम्भावना नहीं।

मैंने निश्चय किया है कि मैं भी एक मज़दूर बनूंगा, ताकि मैं इस समस्या को और भी अच्छी तरह समझ सकूँ। इससे मज़दूर और किसानों में भी कार्य करने में काफी सुविधा रहेगी और मैं उनकी कठिनाइयों से परिचित हो एक अच्छा ख़ासा मज़दूर बन सकूँगा। मेरी राय में हमारा अगला क़दम इसी दिशा में उठना चाहिए।

: १३ :

गाँधीवाद और समाजवाद

[श्री एम० एन० राय]

गाँधीवाद और समाजवाद के विषय पर कुछ कहना या लिखना कठिन काम है। फिर भी मैंने इस विषय पर कुछ लिखना चाहा है तो इसका मुख्य कारण यही है कि इस विषय पर लोगों में काफी भ्रम फैला हुआ है। सबसे पहले मैं पाठकों से यह निवेदन करूँगा कि वे इन पंक्तियों को पढ़ते समय इस बात को ध्यान में रक्खें कि गाँधीवाद और समाजवाद की

तुलना करने और उन दोनों का पारस्परिक भेद बताने में मेरा कभी भी यह इरादा नहीं है कि मैं गाँधीवाद की निन्दा करूँ। मैं प्रत्येक विषय को बौद्धिक-दृष्टिकोण से देखा करता हूँ। भावावेश का मुझपर कम प्रभाव होता है। जब मेरे सामने कोई बात होती है, तो मैं उसको अपनी पसन्द-नापसन्द की नज़र से नहीं देखता—बल्कि उसको समझना चाहता हूँ, और यदि उससे मुझे अपने आदर्श की ओर बढ़ने में सहायता मिलती है तो मैं उसे ग्रहण कर लेता हूँ। यदि अपनी कसौटी पर कसने पर मैं किसी बात या विचार को ठीक नहीं समझता तो मुझे उसको ग्रहण न करने में भी हिचकिचाहट नहीं होती, चाहे उस बात या विचार का सम्बन्ध कितने ही बड़े व्यक्ति से क्यों न हो।

कुछ दिन पहले की बात है, मेरठ ज़िले के राजनीतिक कार्य-कर्ता और विद्यार्थी मुझसे विविध राजनैतिक विषयों पर विचार-विमर्श करने आये। उस समय इस बात पर बड़ी गरम बहस छिड़ गई कि गाँधीजी सोशलिस्ट हैं या नहीं? उन्होंने संभवतः यह सोचकर कि शायद इस विषय में मेरे विचार उनके कुछ काम आ सकें, मुझसे भी इस विषय में अपना मत प्रकट करने का आग्रह किया। एक युवक का दावा था कि "गाँधीजी अपने समय के सर्वश्रेष्ठ समाजवादी हैं।" यद्यपि ऐसी बात सुनने का मेरा यह पहला ही अनुभव न था, मुझे उस समय लगा कि लोग समाजवाद के विषय में तरह-तरह की भ्रान्तिपूर्ण धारणायें बनाये हुए हैं। इसके प्रतिकूल दूसरे मत के समर्थकों के विचार भी मुझे स्पष्ट न लगे। उन्होंने जो राय प्रकट की, वह केवल नकारात्मक ही थी। तब मैंने उन लोगों से भी यह बात कही थी, और आज फिर उसको दोहरा देना चाहता हूं। जहाँ तक मेरा अपना सम्बन्ध है, मैं किसी बात को केवल इसीलिए ग़लत नहीं समझता कि मैं उससे सहमत नहीं हूँ। मैं किसी बात को तभी अस्वीकार करता हूँ जब वह आलोचना की कसौटी पर नहीं ठहर पाती। लेकिन इस लेख में तो मैं गाँधीवाद पर अपना मत भी प्रकट करना नहीं चाहता—मेरा इस विषय में क्या मत है, यह प्रायः सभी लोग जानते हैं। इस लेख

में तो मैं केवल इतना भर करना चाहता हूँ कि गाँधीवाद और समाजवाद की व्याख्या करके आपके सामने रखदूं, ताकि आप अपना परिणाम स्वयं निकाल सकें और यह देख सकें कि क्या यह संभव है कि गाँधीवाद और समाजवाद में समन्वय हो सकता है या वे दोनों परस्परविरोधी सिद्धान्त हैं।

समाजवाद क्या है, इस विषय में बड़ा भ्रम फैला हुआ है। कोई समाजवाद को मानवता का सिद्धान्त समझता है, कोई उसे उपयोगिता का सिद्धान्त मानता है, तो कोई उसे समानता का सिद्धान्त माने बैटा है। मेरे कहने का मतलब यह कभी नहीं है कि भारतवर्ष में ऐसे लोग हैं ही नहीं, जो समाजवाद के विषय में सही जानकारी रखते हों। पर उनसे मुझे कुछ कहना भी नहीं है। मैं इतना अवश्य कह सकता हूं कि जो लोग गांधीजी को समाजवादी समझते हैं, या यह प्रश्न पूछते हैं कि "क्या गांधीजी समाजवादी हैं?" वे समाजवाद से जानकारी नहीं रखते, क्योंकि गांधीवाद और समाजवाद में कोई सामंजस्य नहीं है।

गांधीवाद

अपने विषय को सहल बनाने के लिए यह आवश्यक जान पड़ता है कि हम कुछ शब्दों और वाक्यों आदि की परिभाषा कर लें। मैं स्वीकार किये लेता हूँ कि गांधीवाद की व्याख्या करना आसान नहीं है। क्योंकि जो लोग यह दावा करते हैं कि गांधीवाद ने संसार को सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को हल करने का एक नया ढंग सिखाया है, वे भी अभी तक गांधीजी की सीख को किसी दर्शन-व्यवस्था के रूप में पेश नहीं कर सके हैं। उदाहरण के लिए, आचार्य कृपलानी ने गांधीवाद पर बहुत-कुछ लिखा है, पर उन्होंने भी यह मत प्रकट किया है कि गांधी-वाद नाम की कोई चीज़ नहीं है। यह सिद्ध करने के लिए उन्होंने एक अच्छी बड़ी पुस्तक तक लिख दी है—उसका नाम उन्होंने रक्खा है "गांधीजी का रास्ता।" मेरे लिए तो, "गांधीवाद" और "गांधीजी का रास्ता" इन दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। लेकिन चूंकि यदि मैंने गाँधीवाद की कोई परिभाषा की भी तो उस पर आपत्ति उठ सकती

है, इसलिए मैं गांधीवाद की व्याख्या के विषय में चुप रहूँगा। गांधीजी के नाम के साथ कुछ सिद्धान्तों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है, मैं उन्हीं की समीक्षा करूंगा और यह दिखाने की कोशिश करूंगा कि समाजवाद से उनका कितना सम्बन्ध है।

समाजवाद क्या है ?

मैं पहले समाजवाद की व्याख्या करना चाहूँगा। आप जानते हैं, समाजवाद के अनेक पहलू हैं। विशेषतः जिसे हम मार्क्सवादी समाजवाद (Marxian Socialism) कहते हैं, उसको तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है--यद्यपि इन तीनों में से किसी एक भाग को अन्य दो भागों से अलग नहीं किया जा सकता। ये तीन विभाग हैं--(१) दार्शनिक, जिसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) भी कहते हैं, (२) आर्थिक और (३) राजनैतिक। लेकिन इस समय मैं समाजवाद के दार्शनिक और आर्थिक पहलुओं पर ही विचार करना चाहूँगा। वैसे तो अकेले दार्शनिक पहलू पर भी पूर्णतः विचार करने के लिए इतना स्थान चाहिए, जितना कि मुझे भय है, इस समय मुझे नहीं मिल सकता। फिर भी मेरी राय है कि समाजवाद का दार्शनिक पहलू ही ऐसा है, जिसका किसी प्रकार भी उस विचार-प्रणाली से समझौता नहीं हो सकता जिसे हम लोग गाँधीवाद के नाम से जानते हैं। गाँधीवाद का दार्शनिक पहलू क्या है ? गाँधीवाद दार्शनिक दृष्टिकोण से परम्परागत हिन्दू विचार, हिन्दू दर्शन ही का दूसरा नाम है। गाँधीजी स्वयं बड़े धार्मिक और श्रद्धालु व्यक्ति हैं। उनका भगवान पर भरोसा है, और अनेकों बार वह यह कह चुके हैं कि प्रार्थना ही से उनको वह प्रकाश मिलता है, जिसके सहारे वह ससार की समस्याओं को समझ सकते हैं। दूसरे शब्दों में मैं यूँ कहूँ कि गाँधीजी केवल धार्मिक व्यक्ति ही नहीं हैं, बल्कि सच्चे मानी में धर्मप्राण महानुभाव हैं। क्योंकि वह अपने विश्वास के विषय में बड़े स्पष्ट हैं। इसीलिए हमको गाँधीजी के जीवन-दर्शन की समाजवाद के दार्शनिक पहलू से तुलना करने में कठिनाई का अनुभव नहीं करना पड़ता। जो लोग

अपनेको धार्मिक बतलाते हुए झेंपते हैं, और फिर भी भारतीय दर्शन-शास्त्र और समाज-शास्त्र के प्रतिपादक होने का दावा करते हैं, उनकी स्थिति को समझना बड़ा कठिन होता है । वे लोग अपनी धार्मिकता को तर्क का जामा पहनाने का यत्न किया करते हैं । मैं तो उनके विषय में यही कह सकता हूँ कि वे अपने विश्वास (एतक़ाद) के प्रति सच्चे नहीं हैं । उदाहरणार्थ, आपको ऐसे बहुतसे लोग मिलेंगे जो यह दावा करते हैं कि मार्क्स ने दुनिया को कोई नई बात नहीं बताई, क्योंकि उसकी कोई ऐसी नई बात नहीं है जो वेदान्त या उपनिषदों में न मिलती हो । आध्यात्मिक कम्युनिज्म और धार्मिक समाजवाद की बातें करनेवाले लोगों की भी कमी नहीं है । मुझे तो ऐसे लोगों के सम्पर्क में आने का भी अवसर मिला है जिनका कहना है कि भौतिकवाद या वेदान्त, मार्क्स के सिद्धान्त या मनु के सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है । जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, ऐसे लोगों से पार पाना मुश्किल है । लेकिन गाँधीजी के साथ ऐसी बात नहीं है । क्योंकि वह स्पष्ट ईमानदार हैं और अपने विश्वास के सम्बन्ध में किसीको भ्रम में रखना नहीं चाहते । इसीलिए हम सहज ही में गाँधीवाद और समाजवाद के दार्शनिक पहलू की परस्पर तुलना करके इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि जिसे हम गाँधीवाद के नाम से जानते हैं, उसका और समाजवाद का समन्वय नहीं किया जा सकता । समाजवाद का दार्शनिक आधार भौतिकवाद है, जो धर्म को, विधना द्वारा ब्रह्माण्ड और जीवन के रचे जाने के सिद्धान्त को, स्वीकार नहीं करता । ऐसे समाजवादी के लिए जो अपने विषय से भलीभाँति परिचित है, गाँधीवाद और समाजवाद के विरोधाभास को जानने के लिए केवल इतना ही काफ़ी है । वह बिना किसी कठिनाई के इस परिणाम पर पहुँच सकता है कि गाँधीवाद के गुण-दोष कुछ भी क्यों न हों, उसका समाजवाद से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता । क्योंकि समाजवाद का मूल सिद्धान्त है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद । मेरा इससे क्या अभिप्राय है, यह आप आगे चलकर अच्छी तरह समझ लेंगे ।

मैं एक बार फिर दोहरा दूँ कि समाजवाद से मेरा अभिप्राय मार्क्सवादी सोशलिज्म से ही है। कार्ल मार्क्स से पहले भी समाजवादी विचार प्रचलित थे—किन्तु काल्पनिक या धार्मिक समाजवाद सम्बन्धी ही। उस समय के समाजवाद और गाँधीवाद में कुछ सामंजस्य पाया जा सकता है। उस समय के समाजवादी अपने समय की ग़रीबी और शोषण से असन्तुष्ट थे, और ऐसे समय की कल्पना करते थे, जब समान रूप से सुखी होंगे। मार्क्स ने सबसे पहला जो काम किया वह यह था कि उसने उन 'काल्पनिक' समाजवादियों की आलोचना की, क्योंकि मार्क्स का यह दावा था कि समाजवाद की स्थापना होगी तो इसलिए नहीं कि कुछ दयालु लोग अधिकांश जनता को ग़रीबी में पड़े देखना नहीं चाहते, या मानव द्वारा मानव के शोषण को ठीक नहीं समझते। समाजवाद की स्थापना उसकी आवश्यकता करेगी। जिस प्रकार सामन्तवाद के बाद पूँजीवाद की स्थापना हुई उसी प्रकार पूँजीवाद का स्थान एक उच्चतर समाज-व्यवस्था—समाजवाद—लेगी। पूँजीवाद की विवेचना करके, उसके आन्तरिक व्याघात को स्पष्ट करके, कार्ल मार्क्स ने यह बताया कि पूँजीवाद का नाश होगा और उसके स्थान में एक अधिक उपयुक्त और तर्कयुक्त समाज-व्यवस्था की स्थापना होगी। मार्क्स ने यह बात अवश्य कही थी कि समाजवाद की स्थापना आवश्यकता द्वारा की जायगी, अर्थात् समाजवाद तभी स्थापित हो सकेगा जब पूँजीवादी व्यवस्था में विकास की कोई गुञ्जायश न रहेगी। उन्होंने यह भी कहा कि पूँजीवादी समाजव्यवस्था औरउसकी विशिष्ट राज्य-प्रणाली को उखाड़ फेंकना अनिवार्य है। इसी सम्बन्ध में मार्क्स ने अपने प्रख्यात दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और बताया कि "अबतक दर्शन ने संसार का स्पष्टीकरण किया है, अब उसे संसार को बदलना भी होगा।" इस सिद्धान्त का तर्कयुक्त अर्थ यह भी हो सकता है कि मानव का निर्माण उन परिस्थितियों द्वारा होता है, जिनमें वह रहता है—किन्तु क्योंकि वह स्वयं भी उन परिस्थितियों का एक अंग है, वह उन परिस्थितियों को प्रभावित और परिवर्तित

कर सकता है। आप देखेंगे कि अन्य किसी भी दर्शन-प्रणाली में मानव की रचनात्मक क्षमता को इस रूप से नहीं स्वीकार किया गया है। मार्क्स-वादी दर्शन के अनुसार मानव किसी मानवोपरि शक्ति के हाथ का कठ-पुतला नहीं है, और न किसी विराट कल का एक पुरज़ा ही है। बल्कि मानव उस संसार का, उस समाज का, जिसमें वह रहता है, सृष्टा है।

आप यह समझ गये होंगे कि इस दर्शन-प्रणाली और उस प्रणाली में, जो मानव को किसी सार्वभौम-शक्ति या विधाता द्वारा निर्मित पुतला मानती है, कितना बड़ा मौलिक भेद है। गाँधीजी कभी-कभी विशुद्ध आस्तिक की तरह बोला करते हैं—भगवान् की शक्ति और उसकी प्रार्थना से उनको प्रेरणा मिलती है, इसकी बात वह बताया करते हैं। गीता से प्रेरणा लेते समय तो वह स्पष्ट रूप से यह कहा करते हैं कि वह ऐसे सार्वभौम नियम में, ऐसी शक्ति में, विश्वास करते हैं, जो प्रत्येक सांसारिक वस्तु का स्रोत है; जिसपर मानव के अभिमत का कोई और प्रभाव नहीं। गाँधीजी व्यक्तिगत देन में विश्वास रखते हैं, या समस्त ब्रह्माण्ड के एक नियन्ता में आस्था रखते हैं, इतना तो स्पष्ट है कि मानव-समाज और मानव-गतिविधि के विषय में जो मार्क्सवादी दृष्टिकोण है उससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

साधारणतया समाजवाद के आर्थिक पहलू पर ही वाद-विवाद हुआ करता है। लेकिन उस क्षेत्र में भी हम यदि समाजवाद और गाँधी की तुलना करें तो हमको दोनों का विरोधाभास प्रकट हो जायगा। मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार आप या मैं अपनी इच्छा के अनुसार सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित नहीं कर सकते। आप आदर्श समाज-व्यवस्था की कल्पना कर सकते हैं; आप यह कल्पना कर सकते हैं कि समाज की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, जिससे कोई किसी पर जुल्म न करता हो, जिसमें सब सुखी हों। कल्पना की स्वतन्त्रता आपको है; पर कल्पित व्यवस्था को स्थापित करने की, अपनी इच्छानुकुल समाज स्थापित करने की, स्वतन्त्रता आपको उपलब्ध नहीं है। आप केवल उसी व्यवस्था को स्थापित कर सकते हैं,

यह संघर्ष दबाया या छिपाया जा सकता है, नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि जबतक सम्पत्तिशाली और सम्पत्तिशून्य—अकिंचन—वर्ग रहेंगे, यह संघर्ष भी रहेगा। सम्पत्तिशाली वर्ग की पीठ पर, जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है, सरकार है, राज्यव्यवस्था है। इसलिए, वह अपनी इच्छा से अपनी सुविधाओं को नहीं छोड़ सकता। तब उसको रास्ते से हटाना आवश्यक हो जाता है। यह मार्क्स के समाजवाद का राजनैतिक पहलू है। मार्क्सवादी राजनीति का अर्थ है, शोषित और पीड़ित जनता का शक्ति हस्तगत करने के उद्देश्य से चलाया जाने वाला युद्ध।

गाँधीजी की सीख

गाँधीजी हमें क्या सिखाते हैं? गाँधीजी इस बात में समाजवादियों से सहमत हैं कि जनसाधारण का शोषण नहीं होना चाहिए। वह जन-साधारण की ग़रीबी की भी निन्दा करते हैं। यहाँतक कि वह पूँजीवाद की निन्दा करने से भी नहीं चूकते। लेकिन वह समाज को इस व्यथा से मुक्त होने का जो मार्ग बताते हैं, वह समाजवादियों के मार्ग से सर्वथा भिन्न है। वास्तव में समाजवादी दृष्टिकोण से तो उनका बताया हल कोई हल ही नहीं है। क्योंकि वह आज की जिस विषमता को दूर करना चाहते हैं, उसके आदि-स्रोत को नहीं पहचानते। वर्ग-वैर का मूल कारण है, व्यक्ति-गत सम्पत्ति; वर्ग-वैर का कारण है, सम्पत्तिशाली वर्गों का सम्पत्तिशून्य—अकिंचन—वर्ग को लूटना। गाँधीजी का मत है कि "पारस्परिक वैर उत्पन्न करने के बजाय हमको पूँजीपति, जमींदार तथा ऐसे अन्य वर्गों को निर्धनों के प्रति दयालुता का बर्ताव करने के लिए राज़ी कर लेना चाहिए।" वह प्रत्येक मानव को समान रूप से स्वभावतः भला मानते हैं। इसलिए वह मानव के सहज सौजन्य को जगाना चाहते हैं। अच्छा, हम यह मान लेते हैं कि एक जमींदार या एक पूँजीपति भी स्वभावतः उतना ही भला है, जितना एक साधारण व्यक्ति। मानव स्वभावतः भला होता है या नहीं, इस विवादग्रस्त विषय को मैं यहां उठाना नहीं चाहता। मैं इसमें विश्वास नहीं करता, क्योंकि मेरा विश्वास है कि मानव अपनी जीवन-अवस्थाओं

के अनुकूल बुरा या भला होता है । अस्तुएण मानव-स्वभाव का कोई प्रमाण है भी नहीं। लेकिन मैं माने लेता हूँ कि स्वभावतः जमींदार या पूँजीपति भी भला है, और यदि मैं उसके हृदय तक पहुँच सकूँ और उसको यह विश्वास करा सकूँ कि जो कुछ वह करता है, वह ठीक नहीं है, तो मैं उसका हृदय-परिवर्त्तन करा सकता हूँ। यह मानकर कि ऐसा होना संभव है, मैं यह कहना चाहता हूँ कि आप जिस क्षण भी जमींदार या पूँजीपति का हृदय-परिवर्त्तन करा सकेंगे, वह जमींदार या पूँजीपति न रहेगा। पूँजीपति उसी समय तक पूँजीपति है, जबतक वह अपनी पूँजी के बल पर दूसरों का शोषण करता है, दूसरों के श्रम का अनुचित लाभ उठाता है। यदि ५० प्रतिशत लाभ करने के बजाय वह पाँच प्रतिशत लाभ करे, तो भी उसके पूँजीपति होने में कोई फ़र्क नहीं आता। क्योंकि वह शोषण तो तब भी करता है। जहाँ शोषण है, वहाँ समानता नहीं; और जहाँ समानता नहीं, वहाँ समान सौजन्य भी नहीं। जमींदार की भी यही बात है। गाँधीजी दो परस्पर-विरोधी बातें एकसाथ करना चाहते हैं—एक ओर वह पूँजीपति का हृदय-परिवर्त्तन कराया चाहते हैं, तो दूसरी ओर पूँजीपति और मजूर के हितों में समन्वय। लेकिन जबतक पूँजीपति-हित हैं, तबतक पूँजीपति भी है, और इसलिए मजूर के हितों के साथ उसके हितों का समन्वय कैसे सम्भव है ? वास्तव में आप जबतक इन परस्परविरोधी हितों का समन्वय कराने के लिए चिन्तित हैं, तबतक मैं कहूँगा कि आप हृदय-परिवर्त्तन कराने में सफल नहीं हो सके--क्योंकि इस चिन्ता में दोनों के पारस्परिक हितों का व्याघात सन्निहित है।

गाँधीजी के सामाजिक आदर्श का यही तर्क-विभ्रम (Fallacy) है। वह ऐसे दो हितों में समन्वय कराना चाहते हैं, जिनका समन्वय हो नहीं सकता। यदि वह स्पष्ट रूप से यह कहदें, कि "हाँ, मैं भी पूँजीवाद और जमींदारी के अस्तित्व को नहीं चाहता; लेकिन मेरा ढंग तुम्हारे ढंग से भिन्न है," तो मैं उनके दृष्टिकोण को समझ सकता हूँ--भले ही ढंग के विषय में उनसे सहमत न होऊँ। लेकिन जब आप एक तरफ़ तो दो ऐसे

हितों में समन्वय कराने का यत्न करते हैं, जिनमें समन्वय संभव नहीं, और दूसरी ओर सम्पत्तिशाली और सम्पत्तिशून्य के बीच समानता होने का दावा करते हैं, तो मैं कहता हूँ कि आप तर्क से काम नहीं ले रहे हैं। मैं आपकी ईमानदारी या नेकनीयती पर सन्देह नहीं करता। लेकिन यह ज़रूर कहता हूँ कि आप या तो ऐसी बात कराने का स्वप्न देखते हैं जो असम्भव है, या आप जो-कुछ कहते हैं उसका अर्थ ही नहीं समझे।

पारिभाषिक दृष्टि से, गांधीवाद और समाजवाद के आर्थिक कार्यक्रम के विरोधाभास को संक्षेप में यों रक्खा जा सकता है : समाजवाद का कहना है कि जनसाधारण का आर्थिक कल्याण प्राचुर्य में हो सकता है; गांधीवाद कहता है, सार्वजनिक कल्याण सादगी के वातावरण ही में हो सकता है। समाजवाद प्रचुरता का दर्शन है; गांधीवाद दीनता का दर्शन है।

समाजवाद पर साधारणतया यह आरोप लगाया जाता है कि वह मानव के उच्चतर गुणों को नहीं छूता; जीवन के अन्न-वस्त्र के अतिरिक्त भी कुछ है। इसके उत्तर में मैं केवल यही कहूँगा कि ऐसी बातें करने-वाले लोग समाजवाद सम्बन्धी अपनी अज्ञानता ही का परिचय देते हैं। सांसारिक कल्याण अर्थात् न्यूनतम परिश्रम से सब आवश्यकताओं के पूरा हो सकने की अवस्था ही से मानव को बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास का अवसर मिल सकता है। दूसरे शब्दों में सांस्कृतिक-सिद्धियों के लिए किसी निश्चित न्यूनतम अवकाश की आवश्यकता है। समाजवाद तो मानव के लिए वे अवस्थायें पैदा कर देना चाहता है, जिनमें उसको दिन-रात अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न जुटा रहना पड़े; जिनमें उसको उच्चतर बातों के लिए भी सुविधा और समय मिल सके। मानव ने ऐसे यन्त्र बनाए हैं, जिनकी सहायता से यह उद्देश्य पूरा किया जा सकता है।

मानव-जाति का इतिहास प्रकृति से मानव के निरन्तर युद्ध करने और उस पर विजय पाने ही का इतिहास है। आदमी के प्रारम्भिक

औज़ार बनाने के समय से लेकर बड़ी-बड़ी समय और श्रम बचानेवाली मशीनों के बनाने के समय तक का इतिहास मानव-विजय का ही इतिहास है। परिणाम इसका यह हुआ है कि, यदि सब कुछ ठीक हो तो, प्रति-दिन कुछ घण्टे काम करके ही प्रत्येक मनुष्य के जीवन की आवश्यकता पूरी हो सकती है। लेकिन मानव ने जो मशीन बनाई वह उसकी दास न रह सकी, क्योंकि पूंजीवाद ने उससे मानव का शोषण और पतन करने का काम कराया है। यह कहना भूल है कि दोष मशीन का ही है और मशीन-सभ्यता का अन्त कर देना चाहिए। मशीन-सभ्यता जैसी कोई वस्तु नहीं है, जो-कुछ हो, वह तो मानव सभ्यता ही है। लेकिन गांधीवाद कथित "मशीन-सभ्यता" के अनाचारों से इतना बौखला गया है कि सिर-दर्द को दूर करने के यत्न में सिर तक कटाने को तैयार है। वह समझता है कि जबतक आदमी पुराने ज़माने की सादगी को फिर से न अपनायेगा, तबतक इस दैत्य से उसका छुटकारा न हो सकेगा।

मैं यह कहना नहीं चाहता कि उस पुराने युग को पुनः लाना सम्भव भी है या नहीं। यदि मैं यह मानलूं कि मानव-प्रकृति की घड़ी की सुई को कई सौ साल पीछे हटाया जा सकता है, तो भी तो यह परिणाम नहीं निकल सकता कि तब हम अधिक सुखी होंगे। यदि हम पुराने ज़माने के उत्पादन-साधनों को अपना लें, तो न्यूनतम शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी आज से कई गुणा अधिक श्रम करना पड़ेगा। लेकिन गांधीजी का इस सम्बन्ध में जो तर्क है, उसे हम समझ सकते हैं। वह कहते हैं कि हमने व्यर्थ ही अपनी आवश्यकताओं को बढ़ा लिया है। इसलिए हम ऐसा उपाय क्यों न करें, ऐसे युग में क्यों न चलें जायं, जहां न तो इतनी आवश्यकता हो और न इतना श्रम करना पड़े ? लेकिन कौन कह सकता है कि नैतिक या आध्यात्मिक दृष्टि से, आज से २०० साल पहले, हमारे पूर्वज अधिक उन्नत थे ? मैं इस बात का माननेवाला नहीं हूं, कोई इति-हासज्ञ भी इस मत को ग्रहण नहीं कर सकता। लेकिन सादगी के सिद्धान्त

में एक और भी तर्क-विभ्रम (Fallacy) है। यदि हम यह मान भी लें कि सादा जीवन आदर्श-जीवन है, तो भी हम यह नहीं कह सकते कि एक धोती-कुर्ता पहननेवाला व्यक्ति कोट-पतलून पहननेवाले व्यक्ति से श्रेष्ठतर है; क्योंकि तब लंगोटी ही पहननेवाला व्यक्ति तो धोती-कुर्ता पहननेवाले से भी अधिक ऊंचा होगा। कहने का मतलब यह है कि आप यह नहीं बता सकते कि सादगी कहाँ शुरू होती है और कहां समाप्त। यदि सादगी ही को मानव की सांस्कृतिक सिद्धियों की जांचने की कसौटी बनाया जाय, सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ आदर्श व्यक्ति हमारे उन पूर्वजों में मिलेगा, जो पेड़ों पर जीवन व्यतीत किया करते थे। मुझे तो लगता है, गांधीजी को अपनी बातों पर विचार करने का अवसर ही नहीं मिला, इसलिए वह उनका तर्कयुक्त परिणाम नहीं समझ सके हैं। "सादा जीवन, उच्च विचार" की एक कहावत भी प्रचलित है। लेकिन इस समय संसार के प्रमुख वैज्ञानिक और दार्शनिक उच्च विचार नहीं रखते, यह भी कौन कह सकता है? एक ऐसे मज़दूर की कल्पना कीजिए, जो जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दिन में ८-१० घण्टे काम करके घर लौटा है। क्या आप समझते हैं उसको "उच्चतर" बातों पर विचार करने का अवसर है? थके-मांदे शरीर को लेकर एक बार वह जहां पर चटाई पर लेटा कि सुबह होगई—सुबह उसको फिर उसी संकटमय काम के लिए उठा लेगी। मज़दूर खेत में हो या कल-कारखानों में, चरखा चलाता हो या मशीन से काम करता हो, सभी जगह उसकी यही दशा है। लेकिन समाजवाद ने रास्ता दिखाया है। प्रत्येक मानव-प्राणी को नैतिक और आध्यात्मिक विकास का अवसर मिल सकता है। लेकिन तभी, जब उसको अपना पेट भरने और तन ढकने भर के लिए जानवर की तरह ८-८ और १०-१० घण्टे तक अपनी शक्ति व्यय न करनी पड़े। समाजवाद उन अवस्थाओं को पैदा करना चाहता है, जिनसे ऐसा होना सम्भव है। समाजवाद गांधीवाद की तरह यह नहीं कहता कि मानव का सांस्कृतिक विकास सादगी के वातावरण से हो सकता है, क्योंकि सादगी दीनता का दूसरा परिष्कृत

नाम भर ही है। समाजवाद का दावा है कि मानव की सांस्कृतिक उन्नति भौतिक पूर्णता में ही सम्भव है।

गांधीवाद और समाजवाद के राजनैतिक पहलू पर विचार प्रकट करना सहल काम नहीं है। समाजवादी दृष्टिकोण से राजनीति में दबाव (Pressure) अनिवार्य है। क्योंकि कैसी भी राज-व्यवस्था क्यों न हो, वह किसी-न-किसी वर्ग का दमन करती ही है। आज की समाज-व्यवस्था में, सरकार समाज के कुछ लोगों के हाथ में दमन का एक साधन मात्र है; अधिकांश जनता का उसके द्वारा दमन किया जाता है। समाज के बड़े अंग को मुट्ठीभर लोगों के चंगुल से मुक्त करने के लिए, राजसत्ता पर जनसाधारण द्वारा अधिकार किया जाना नितान्त आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, मैं कहूँगा, जनसाधारण को शासक-वर्ग से शक्ति छीननी है। लेकिन यहां पहुँचते ही हमारे सामने गांधीजी की सीख पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। गांधीजी ने हमको जो शिक्षा दी है, उसी को उसकी सबसे बड़ी देन समझा जाता है। मेरा मतलब अहिंसा के सिद्धान्त से है। उनकी धारणा है कि आज की समाज-व्यवस्था में किसी प्रकार की उथल-पुथल किये बिना, आज के सामाजिक बंधनों को बिगाड़े बिना भी अहिंसा का वातावरण पैदा किया जा सकता है। यदि ऐसा हो सके, तो कम-से-कम मैं, व्यक्तिगतरूप से, इसका स्वागत करूंगा। मैं भी चाहता हूं कि समाज हिंसा से मुक्त होजाय, समाज में पशु-बल का नियम न रहकर नैतिक नियम का बोलबाला हो। लेकिन आदर्श क मोह में पड़कर हो क्रूर वास्तविकता से मुँह नहीं मोड़ लेना चाहिए। वास्तविकता यह है कि आज की समाज-व्यवस्था का आधार हिंसा है। लेकिन गांधी जी के अहिंसा सिद्धान्त का अर्थ यह है कि आज की उस समाज-व्यवस्था को भंग न किया जाय, क्योंकि उसको भंग करने का प्रयत्न हिंसा है। लेकिन आज मैं हिंसा-अहिंसा के विषय को भी नहीं उठाना चाहता और पाठकों से गांधीजी के कुछ वक्तव्यों और उक्तियों को पढ़ने ही का अनुरोध करूंगा। गांधीजी अनेकों बार यह कह चुके हैं कि

आज मज़दूर और मालिक के बीच जो सम्बन्ध है, वह हिंसात्मक है। मालिक साधन-सम्पन्न है; वह मज़दूर को, जिसके पास अपना जीवन चलाने के लिए अपनी मेहनत के सिवाय और कुछ नहीं, मनचाही मजूरी स्वीकार करने को विवश कर सकता है। क्योंकि यदि मज़दूर उसकी बताई मजूरी स्वीकार न करे तो भूखों मरने के सिवाय उसके पास चारा ही क्या रहता है? भूखों मार डालने की धमकी देकर जनता के एक बड़े भाग को अपनी मनचाही मजूरी देकर काम करने को बाध्य करना यदि हिंसा नहीं तो क्या है? यदि मज़दूर इस शोषण को, इस जुल्म को रोकने के लिए हड़ताल करते हैं, तो शोर मच जाता है कि मज़दूर हिंसा पर तुले हुए हैं। गांधीजी ने मज़दूरों के इस प्रकार के कार्य को हिंसा कहा है, और उसकी निन्दा की है। इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि आज की अवस्थाओं में अहिंसा का प्रचार करना हिंसा पर, उस हिंसा पर जो विराट जनसमूह को पीस रही है, परदा डालना है। अहिंसा सुन्दर और वाञ्छनीय आदर्श है। गांधीजी ने इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, हम उनके आभारी हैं। पर उन्होंने अहिंसा को सिद्ध करने का मार्ग नहीं बताया। गांधीजी आदर्शवादी हैं—ऐसे आदर्शवादी, जो दुर्भाग्यवश वस्तुस्थिति को भूलते हैं। समाजवादी भी आदर्शवादी हैं, पर वे वस्तुस्थिति से मुँह मोड़कर हवा में उड़ना नहीं चाहते। हम अहिंसा स्थापित कर सकेंगे; पर पहले उन अवस्थाओं को बदलना होगा, जिनमें हिंसा होती है। हम ऐसा समाज स्थापित किया चाहते हैं जिसमें आदमी आदमी का, समाज का अल्पसंख्यक वर्ग बहुसंख्यक वर्ग का, शोषण न कर सकें; जिसमें हिंसा न तो संभव ही होगी और न आवश्यक। उस आदर्श को कैसे प्राप्त करें? गांधीवाद और समाजवाद के साधनों में भेद है।

मुझे विश्वास है, पाठक यह समझ गये होंगे कि गांधीवाद और समाजवाद में सामञ्जस्य नहीं है। आदर्श का सामञ्जस्य भी तनिक ध्यानपूर्वक विचार करने पर नहीं रहता। गांधीजी कुछ भी हों, समाजवादी

नहीं है। मुझे तो यकीन है, यदि उनको यह पता हो जाय कि समाजवाद के प्रवर्तकों के सिद्धान्तों को स्वीकार करके ही समाजवादी हुआ जा सकता है, तो स्वयं गांधीजी भी समाजवादी होने से इन्कार कर देंगे।

: १४ :

गाँधीवाद और साम्यवाद

[श्री सम्पूर्णानन्द]

सम्पादकजी की आज्ञा से, मैं इस विषय पर लिखने बैठा तो हूँ, पर मेरी कठिनाई यह है कि मैं गांधीवाद का अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझता। महात्माजी के नेतृत्व में कांग्रेस और गवर्मेण्ट के बीच जो संघर्ष १९२१ से चला आ रहा है, उसमें आरम्भ से ही सम्मिलित हूं; पर 'गांधीवाद' का अर्थ निर्णय नहीं कर सका हूं। इसका एक बड़ा कारण यह है कि भिन्न-भिन्न लोग इसका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में करते हैं—जिस व्यक्ति को महात्माजी के उपदेश में जो बात सबसे उत्तम और अपूर्व जचती है, वह उसीको सर्वोपरि महत्व देकर उसीके आधार पर अपने 'गांधीवाद' की रचना करता है। साम्यवाद के भी कई भेद हैं। इस लेख में मैं अपने सामने उसीको रक्खूंगा, जिसका स्पष्टीकरण कार्ल मार्क्स ने किया, जो लेनिनिज्म या बाल्शेविज्म के नाम से रूस में व्यवहृत हुआ। यही साम्यवाद का सबसे व्यापक और शुद्ध रूप प्रतीत होता है।

महात्माजी के जीवन और उनके समय-समय के उपदेशों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट समझ में आती है कि गांधीवाद और चाहे जो कुछ हो, निम्नलिखित बातें उसके आवश्यक अंग हैं:—

(क) अहिंसा का सिद्धान्त--महात्माजी भारत में क्रान्ति चाहते हैं; पर अहिंसात्मक नीति से। औरों के लिए अहिंसा साधन मात्र है; पर उनके लिए इस साधन का इतना महत्व है कि इसके लिए वह साध्य तक को छोड़ दे सकते हैं।

(ख) मशीनों का विरोध—महात्माजी चाहते हैं कि कम-से-कम वे

मशीनें तो शीघ्र-से-शीघ्र हटा दी जायँ, जो मनुष्य से प्रतियोगिता करती हैं, और उनके स्थान पर हाथ से चलने वाले यंत्र—उदाहरण के लिए चर्खा, फिर से चलाये जायँ।

(ग) मनुष्य का जीवन धर्ममय बनाया जाय। सदाचार कुछ विशेष अवसरों के लिए नहीं, वरन् सभी अवस्थाओं के लिए हमारा पथ-प्रदर्शक बने।

(घ) समाज के आर्थिक विभाजन का रूप प्रायः ऐसा ही रहे, अर्थात् ज़मींदार भी रहें और किसान भी, कोट्याधिपति भी रहें और निर्धन भी। धनवान् अपने को निर्धनों का वली, अभिभावक समझें, अपने को उनके भरण-पोषण के उत्तरदायी समझें।

सम्भव है, उपर्युक्त बातों में से कोई गौण हो, यह भी सम्भव है कि गाँधीवाद के कुछ और भी परमावश्यक अंग हों; पर मैं इनको ही मुख्य समझता हूँ, और इन्हीं के आधार पर गाँधीवाद की साम्यवाद से तुलना करना चाहता हूँ।

अहिंसा

अहिंसा का उपदेश तो सभी साधु-महात्माओं ने किया है; पर यह महात्माजी की ही शिक्षा है कि अहिंसा सार्वजनीन होती है, इसके द्वारा राष्ट्रीय क्रांतियाँ हो सकती हैं। हममें से बहुत-से लोग इस बात को भूल जाते हैं कि महात्माजी भारत में क्राँति चाहते हैं; वह लिबरलों की तरह क्रम-विकास नहीं चाहते। बहुत-से कांग्रेसवालों में अभी क्रान्तिकारी मनोवृत्ति नहीं है; जेल जाते हैं, लौटकर कौटुम्बिक व्यापार में लग जाते हैं। कांग्रेस वाले अभी इस भाव को नहीं जगा सके कि जबतक स्वराज्य नहीं होता, तबतक हम घर वालों के लिए और घर वाले हमारे लिए उसी प्रकार मर चुके, जिस प्रकार कि एक बम चलाने वाले क्रांतिकारी के लिए होता है। यह हमारी दुर्बलता है; पर महात्माजी ऐसी ही मनोवृत्ति चाहते हैं, और उनको दृढ़ विश्वास है कि ऐसी मनोवृत्ति वाले मनुष्य शुद्ध अहिंसा का पालन करते हुए अपने उद्देश्य में सफल होंगे।

साम्यवाद भी क्रांतिकारी मनोवृत्ति चाहता है। साम्यवादी चाहते हैं

कि प्रत्येक में राष्ट्र में राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति हो; क्योंकि बिना विश्वव्यापी क्रान्ति के साम्यवाद का समुचित प्रयोग नहीं हो सकता। साम्यवादियों का यह दृढ़ विश्वास है कि क्रम-विकास से साम्यवाद की स्थापना किसी भी देश में नहीं हो सकती, और सच्चे साम्यवादी उन लोगों पर हँसते हैं, जो इंगलिस्तान के श्रमिक दल की भांति यह समझते हैं कि वे क्रमशः वैध उपायों से पूँजीवाद की नींव पर जमी हुई शासन तथा आर्थिक व्यवस्था को साम्यवादी साँचे में ढाल देंगे। अतः क्रांति तो अवश्यम्भावी है; पर वह कैसे और किस प्रकार की होगी, इसके सम्बन्ध में साम्यवाद का अपना कोई सिद्धान्त नहीं है। साम्यवादी कोई हिंस्र हत्यारे नहीं होते। नरमेध में उन्हें कोई मज़ा नहीं आता। पूँजीपति जो साम्राज्यवाद का आश्रय लेकर आज करोड़ों मनुष्यों को दास बनाये हुए हैं, जिनके लिए भीषण जगद्व्यापी युद्ध छोड़कर भीषण रासायनिक उपचारों से काम लेना एक साधारण-सी बात है, मनुष्य-जीवन को भले ही तुच्छ पदार्थ समझते हों, पर साम्यवादी मानव-जीवन के मूल्य को समझता है। वह रक्तपात को अच्छा नहीं समझता। यदि बिना रक्तपात के उद्देश्य की सिद्धि हो जाय, तो उसे हर्ष होगा; पर व्यावहारिक बात यह है कि आज-तक जितनी भी क्रांतियाँ हुई हैं, सबमें कोई न कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसने रक्तपात कराकर छोड़ा है। बस, यहीं पर गाँधीवादी और साम्यवादी का साथ छूटता है। साधारण साम्यावादी का यह विश्वास है कि शान्ति के लिए क्रांति आवश्यक है; क्रांति में कुछ हिंसाहोती ही है, इस हिंसा से विचलित होकर हम अपने लक्ष्य को छोड़ नहीं सकते। हम हिंसा का स्वागत नहीं करते; पर उससे घबराते भी नहीं। गाँधीवाद कहता है कि हम भी मानते हैं कि बिना क्रांति के शान्ति नहीं होगी; पर शत्रुओं और विरोधियों की हिंसात्मक कृपाओं का उत्तर हम अहिंसा से ही देंगे। सम्भवतः हमको इसमें कुछ अधिक कष्ट उठाना पड़ेगा; पर विजय भी हमारी ही होगी। हम अहिंसक रहकर भी लक्ष्य को सिद्ध कर देंगे।

विचार करने से दीख पड़ता है कि दोनों पक्षों में कोई सैद्धान्तिक

विरोध नहीं है। अहिंसा एक नया साधन है, जिसकी परीक्षा साम्यवाद ने नहीं की है; बस इतनी-सी ही बात है। भारत में साम्यवादी भी हैं और अहिंसावादी भी। यह कोई आश्चर्य की बात न होगी, यदि वे दोनों को मिलाकर भारतीय साम्यवाद का स्वरूप स्थिर करें। यह भारत का जगत् के लिए महान् संदेश होगा, और गाँधीवाद तथा साम्यवाद के समन्वय का प्रथम उपाय।

मशीनों का विरोध

महात्मा जी मशीनों के विरोधी हैं। वह कम-से-कम यह चाहते हैं कि ऐसी मशीनें जो मनुष्यों से प्रतियोगिता करती हैं, जो मनुष्यों को हटाकर काम करती हैं, वे हटा दी जायँ। सीनेवाली मशीन भले ही रह जायँ, क्योंकि उनके साथ दर्जी की भी आवश्यकता पड़ती है; पर स्पिनिंग फ़ैक्टरी (सूत कातने का कारखाना) तोड़ दी जाय और चर्खा फिर से चल जाय। यूरोप और अमेरिका में भी इस मत के कई विद्वान् हैं। उनका विश्वास है—और यह विश्वास निराधार नहीं है—कि मशीनों के कारण ही पूँजीवाद का आना हुआ। मशीनों के कारण गाँव उजड़कर बड़े-बड़े नगर बस गये; जबतक मशीनें रहेंगी, बेकारी की समस्या कभी हल न होगी, न श्रमिक और पूँजीपति का संघर्ष समाप्त होगा। मशीनों ने जीवन की सादगी को भी नष्ट कर दिया है, और वस्तुओं की बहुतायत होते हुए भी आजकल जो व्यापक दारिद्रय है, उसका मूल कारण मशीनें ही है, अतः मशीन-युग की समाप्ति में जगत् का कल्याण है।

इस मत से साम्यवाद का सैद्धान्तिक विरोध तो नहीं है; पर एक बात अवश्य है, कि यह कार्यान्वित होजाय तो साम्यवाद की बहुत-कुछ आवश्यकता ही मिट जाय। साम्यवाद ने इस विषय पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया है। साम्यवादियों का कहना है कि यदि मनुष्य मशीन को अपना स्वामी बना लेगा, तो दुखी होगा; पर यदि मशीन को अपना सेवक बनाये रक्खेगा, तो सुखी रहेगा। मशीन भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं को शीघ्र बना देती है। थोड़ी-थोड़ी देर काम करने की व्यवस्था

करने से बहुत-से श्रमिक काम पा सकते हैं और बेकारी का निराकरण हो सकता है। साम्यवादियों का ख़याल है कि मशीन के द्वारा थोड़ी देर में काम से छुट्टी मिल जाती है, शेष समय में मनुष्य आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक उन्नति कर सकता है; बिना मशीन के वह फिर तेली के बैल की तरह काम में फँस जायगा। साम्यवादी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था भी मशीनों के अस्तित्व की कल्पना पर ही स्थित है; पर वह थोड़ा उलटफेर करके मशीनविहीन युग में भी चलाई जा सकती है। फलतः इस अंश में भी साम्यवाद और गाँधीवाद का समन्वय हो सकता है।

जीवन को सदाचारमय—धर्ममय—बनाना

यह एक ऐसा विषय है, जिसमें गाँधीवाद और साम्यवाद दोनों ही भिन्न-भिन्न शब्दों में एक ही बात कहते हैं। लोगों को यह आश्चर्य होगा कि मैं साम्यवाद—रूसी कम्यूनिज्म—को धार्मिक जीवन का पक्षपाती बताता हूँ; पर बात वस्तुतः ऐसी ही है। वे लोग ईश्वर को तो नहीं मानते—ऐतिहासिक कारणों ने, उनके देश में संस्थापित अर्ध-सरकारी धर्म-संस्था चर्च की शरारत ने, उनके चित्त को ईश्वर, ईश्वरोपासना आदि की ओर से खट्टा कर दिया है। परन्तु दया, शौच, वात्सल्य, अस्तेय, सत्य, अपरिग्रह, त्याग और लोकसंग्रह का वे लोग आदर करते हैं। इन बातों को पोथियों और धर्मकथाओं के लिए नहीं छोड़ रखते। इनको व्यवहार में लाते हैं और बच्चों को सिखाते हैं। उनका विश्वास है कि ग़लत शिक्षा ने मनुष्य को स्वार्थी और परिग्रही बना दिया है; सुशिक्षा उसे फिर परार्थी और अपरिग्रही तथा त्यागी बना सकती है, और यही साम्यवाद की जड़ है। यदि मनुष्य वस्तुतः स्वार्थी और धन-संग्रह का लोभी है, तो साम्यवाद चल नहीं सकता। अतः लोगों में त्याग, निःस्वार्थता, परार्थता और अपरिग्रह का फैलाना साम्यवाद के लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। साम्यवादी के सामने एक आदर्श है—आप भले ही उससे सहमत न होइए—और यह सदैव होता है कि आदर्शवादी का जीवन साधारण मनुष्य के—खाने-पीने और कमाने वाले पशु के—जीवन से ऊँचा होता है। गाँधीवादी भी

आदर्शवादी होता है। दोनों के आदर्शों के रूप में भेद है; पर दोनों मनुष्यों के स्वभाव और बर्ताव को बदलना चाहते हैं; दोनों मनुष्य को परार्थी, अपरिग्रही, त्यागी देखना चाहते हैं। साम्यवादी समझता है कि इन गुणों की वृद्धि से ही भौतिक सुखों का भोग सबके लिए सम्भव होगा। गाँधीवादी भौतिक सुखों के भी परे जाना चाहता है। यह बड़ा भेद है; पर आदर्शवादी होने के कारण दोनों के व्यवहार में बहुत-कुछ साम्य है। घर के लिए एक नीति, बाहर के लिए दूसरी, राजनैतिक क्षेत्र के लिए तीसरी—यह दोनों की दृष्टि में हेय है। साम्यवादी प्रायः ईश्वर को नहीं मानता (यह समझ रखना चाहिए कि वह ईश्वर के नाम के ठेकेवाले धर्माध्यक्षों के हाथ से सताये हुए यूरोप के साम्यवादियों की बात है; अन्यत्र के लिए नहीं है); पर अपनी बुद्धि के अनुसार वह भी सत्य का अनुयायी है। भारत के साम्यवादी चाहें तो ईश्वरवाद, धार्मिकता और साम्यवाद अर्थात् गाँधीवाद और साम्यवाद का अच्छी तरह समन्वय कर सकते हैं।

समाज के आर्थिक विभाजन का रूप

दोनों वादों में यह मौलिक भेद है, और मेरी समझ में तो यहाँ समन्वय हो ही नहीं सकता। साम्यवाद आर्थिक श्रेणियों को मिटाकर अमीर-ग़रीब का भेद ग़ायब कर देना चाहता है—न कोई ज़मींदार रहेगा, न कारख़ानेदार, न महाजन। महात्माजी के मत से ज़मींदार भी रहेंगे, महाजन भी, और यदि मशीनें भी रह गईं तो कारख़ानेदार भी। हाँ, उन लोगों को शिक्षा ऐसी दी जायगी कि वे अपनेको निर्धनों के लिए उत्तरदायी समझेंगे, और उनकी अविरल दान-धारा निर्धनों का काम चलाती रहेगी। यह अवस्था अबसे लाख दर्जे अच्छी है; पर यदि विचार किया जाय, तो इसमें बड़े दोष हैं। श्रेणी-भेद रहने के अर्थ ही हैं श्रेणी-दोष, चाहे वे कितने ही क्षीण क्यों न होजायँ। साम्यवाद सबको पूर्णत्याग और अपरिग्रह की शिक्षा देना चाहता है। गाँधीवाद एक वर्ग को अपूर्ण त्याग और अपरिग्रह सिखलायेगा, दूसरे वर्ग को सन्तोष। संघर्ष की जड़ बनी रहेगी। दान का भाव बड़ा उत्तम भाव है; पर इसका भाव यह नहीं है कि

समाज में दान-पात्रों का एक वर्ग उत्पन्न किया जाय । सबसे अच्छा तो यही है कि कोई किसीका आश्रित न हो। जब एक बार संग्रह की अनुमति मिली, तब वह कहाँ जाकर रुकेगी, यह कहना कठिन है। इस दृष्टि से गाँधीवाद सदोष है; क्योंकि वह आधी ही दूर जाकर रुक जाता है। समाज का श्रेणी-भेद और तज्जन्य श्रेणी-संघर्ष रोग इतना भीषण होगया है कि अब बिना पूरे छेदन के वह दूर नहीं हो सकता, और इस छेदन का ही नाम साम्यवाद है। और सब बातों में मेल और समन्वय हो सकता है; पर मेरा ऐसा विश्वास है कि इस बात में समन्वय नहीं होसकता। सम्भव है, महात्माजी ने इस प्रश्न की ओर पूरा ध्यान न दिया हो, या उनके अनन्य अनुयायी उनके उपदेशों को समझे न हों; जो कुछ हो, यह बात भी गाँधीवाद का एक अंग बन गई है। साम्यवाद की स्थिति स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में रत्ती-भर दबने, हटने या समझौता करने से वह साम्यवाद रह ही नहीं सकता।

साम्यवाद और गाँधीवाद के सँयोग से क्या फल होगा ? साम्यवाद के भी देश-काल-पात्र के भेद से रूप बदल सकते हैं। रूस का लेनिनिज्म शुद्ध मार्क्सिज्म साम्यवाद नहीं है । भारतीय साम्यवाद का भी विशेष स्वरूप होगा। सम्पत्ति के विभाजन और राष्ट्रीकरण में तो वह दृढ़ रहेगा, क्योंकि यही उसका अपनापन है। इस मार्ग से डिगना उसके लिए पतन और आत्मसंहार होगा। परन्तु इसके अतिरिक्त उसमें परिवर्त्तन अवश्य होंगे। उसपर गाँधीवाद और भारतीय संस्कृति का, जो गाँधीवाद की जननी है, प्रभाव पड़ेगा, और वह अधिक आध्यात्मिक होजायगा, सम्भवतः अहिंसा को अपना लेगा। यह पराजित गाँधीवाद की महान् विजय होगी और वर्त्तमान काल में जगद्धित के लिए भारत का सबसे बड़ा प्रयत्न होगा। यहींतक दोनों वादों का समन्वय भी सम्भव है, इसके आगे बढ़ने से एक का अस्तित्व दूसरे में लोप हो जायगा । यह गंगा-जमुनी मेल भी श्रेयस्कर होसकता है। सम्भवतः गाँधीवाद भारतीय साम्यवाद के लिए यमुना का ही अभिनय करेगा।

: १५ :

गाँधीवाद और समाजवाद

[श्री विचित्रनारायण शर्मा]

मेरे एक मित्र, जिनकी सद्भावना का मैं क़ायल हूं, जो कभी मेरे सहकारी भी रह चुके हैं और जो अब एक कट्टर समाजवादी होगये हैं, अपने अन्तिम पत्र में लिखते हैं—"मैं इस नतीजे पर पहुँच गया हूँ कि गाँधीवाद ही हमारा सबसे बड़ा शत्रु है और एक दिन हमें उसीसे लोहा लेना पड़ेगा। इसलिए अपनी सारी शक्तियाँ अब मैं उसीके विरुद्ध लगाऊँगा।"

समाजवादी मित्र 'गाँधीवाद' को अपना सबसे बड़ा शत्रु समझते हैं, यह मेरी अपनी भी धारणा कुछ दिनों से होती जा रही थी। यह मित्र अपनी इस धारणा में अकेले नहीं हैं और अपने दल में यह कुछ कम समझदार भी नहीं समझे जाते। इसलिए यहाँ इस विषय का थोड़ा विवेचन करना चाहता हूँ।

महाशय मानवेन्द्रनाथ राय, श्री जयप्रकाशनारायण तथा दूसरे समाजवादी मित्र अपने लेखों और भाषणों में जिस तरह गाँधीजी और उनके तरीक़ों पर हमला कर चुके हैं, और कर देते हैं, वह स्वयं इसका सबूत हैं। मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि श्री सुभाष बाबू और पं० जवाहरलालजी भी जब पूर्णतया समाजवादी प्रभाव में होते हैं तो अपने को गाँधीजी का आलोचक और विरोधी पाते हैं। राष्ट्रपति होने से पहले जो पुस्तक सुभाष बाबू ने लिखी थी, वह इसका स्पष्ट प्रमाण है।

यह विरोध क्यों है ? अगर हमारे समाजवादी मित्र ग़रीबों के सबसे बड़े हिमायती हैं, तो ग़रीबों के लिए जिसने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया है और ग़रीबों की सेवा में जो दिन-रात लगा रहता है उसे अपना विरोधी क्यों समझते हैं ? तफ़सील में उसके कई कारण हो सकते हैं, पर मूल में, जहाँतक मैं समझा हूँ और इन मित्र के लेखों और बातों से प्रकट होता

है, इसका एक ही कारण है। गाँधीवाद की जड़ में जो नैतिकता है वह इन्हें पसन्द नहीं है। ईश्वर, सत्य, अहिंसा और त्याग के वास्ते समाजवाद में कहीं कोई स्थान नहीं है और गाँधीवाद बिना इनके कोई हस्ती नहीं रखता है।

वैसे तो सच यह है कि गाँधीवाद कोई अलग 'वाद' ही नहीं है। जो कुछ मूल बातें गाँधीजी हमारे सामने रख रहे हैं, वे सब हिंदू-धर्म में विद्यमान हैं—सिर्फ़ हिन्दू-धर्म में ही क्यों, सभी धर्मों में विद्यमान हैं। गाँधीजी तो सिर्फ़ उनपर दृढ़तापूर्वक अमल करना चाहते हैं और दूसरों से उनपर अमल करने का आग्रह करते हैं। या दूसरे शब्दों में, समाज के सामने जो प्रश्न है उनका हल उन्हीं पुराने आज़माये हुए उसूलों से करना चाहते हैं। यह तो गाँधीजी के प्रबल प्रभावशाली व्यक्तित्व का प्रभाव है कि पुरानी चीज़ें भी उनके नाम से पुकारी जाने लगीं।

दूसरी ओर हमें यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि नैतिकता केलिए समाजवाद में क़तई कहीं भी कोई जगह है ही नहीं। सच तो यह है कि आज जो भी थोड़ी-बहुत मान्यता या प्रभाव समाजवाद का है, वह इस नैतिकता ही के सहारे है। समाज और ग़रीबों की सेवा या उनके कष्टों को दूर करने का प्रयत्न स्वयं ही एक बड़ा नैतिक सिद्धान्त है। इसके अलावा समाजवाद के प्रवर्तकों के जीवन में खुद नैतिकता एक बड़े भारी दर्जे तक मौजूद है। उनमें त्याग है, तपस्या है, सद्भावना है।

लेकिन यह सब अज्ञातरूप से है। उनकी फ़िलासफ़ी में, उनके 'वाद' में इसका कहीं कोई ख़ास रूप से ज़िक्र नहीं होता है, न इसपर कोई ज़ोर ही दिया जाता है। दूसरे लफ़्ज़ों में अगर यह कहा जाय कि समाजवाद में इनपर कोई ख़ास विचार स्थिर ही नहीं किये गए हैं, तो बहुत ग़लत न होगा। फलस्वरूप समाजवादियों की विचार-धारा में और उनके भाषणों और जीवन में, जहाँतक इस सवाल का ताल्लुक़ है, बहुत विरोध है। और 'ईश्वर'—उसे तो समाजवादी संसार में प्रवेश करने का कोई अवसर ही नहीं है। यद्यपि कुछ समाजवादी ईश्वर को मानते हैं, हवन-सन्ध्या भी

करते हैं, कुछ भाई चोटी भी रखते है और चन्दन भी लगाते हैं, फिर भी सिद्धान्त से अध्यात्म जैसी वस्तु को समाजवाद में स्वीकार नहीं किया गया है। समाजवाद सच पूछो तो भौतिकवाद पर स्थिर है।

इसी तरह सच को भी सच मानकर कोई मान का स्थान नहीं दिया गया है। सच की यह उपयोगिता स्वीकार नहीं की गई है कि सदा उसे व्यवहार में लाने से समाज का कल्याण ही होगा। समझ में अगर न आये और प्रत्यक्ष रूप में चाहे थोड़ी-बहुत हानि भी हुई दिखलाई दे तो भी उसे नहीं छोड़ना चाहिए, यह उपदेश नहीं दिया जाता है। यद्यपि यह हमें तसलीम करना पड़ेगा कि उसका एकदम बहिष्कार भी नहीं कर दिया गया है। दूसरे शब्दों में निष्काम भाव से 'असत्य' की भी पूजा नहीं की गई है। समाजवाद में "टैक्टिक्स" को सबसे बड़ा स्थान दिया गयाहै। कार्य-सिद्धि के लिए जो भी तरीक़ा ठीक हो, उसे काम में ले आना चाहिए। कार्य-सिद्धि असली मक़सद है; और जबतक वह मक़सद दुरुस्त है, वह आला है और उसे हासिल करने का तरीक़ा भी 'जायज़' है, बशर्तेकि उससे मक़सद हासिल हो जाता हो, अगर सच को साथ रखते हुए काम चल जाता है, तो उससे नफ़रत करने की ज़रूरत नहीं। पर जो उसकी वजह से अड़चन हो, दिक्कत या रुकावट हो, तो उसे गले लगाये रखने की भी क्या आवश्यकता ? झूठ या असत्य भी उतना ही अच्छा ख़िदमतगार हो सकता है जितना सच। जब एक ख़िदमतगार काम न दे सके तो दूसरे को तलब कर लेने में मालिक को कोई शर्म न होनी चाहिए।

इस हिंसा-अहिंसा की वजह से सिर्फ़ इसी एक जगह झगड़ा नहीं आता है। यह साफ़ बात है कि कांग्रेस पर आज गाँधीजी की भारी छाप लगी है और उसके सारे प्रोग्रामों को निश्चय करने में गांधीजी का बड़ा हाथ होता है। गांधीजी का स्वयं अपना सारा रुख़ अहिंसा से तय होता है। उनकी सारी चालों, सभी नीति के पीछे अहिंसात्मक मनोवृत्ति या विचार-धारा मौजूद है। उधर समाजवाद की भित्ति स्थिर है शक्ति या हिंसा पर। लोग समता का तथा अच्छे भावों का प्रचार करने मात्र से

ठीक से आचरण नहीं करने लग जावेंगे। दान, दया, उदारता की नसीहत से पूँजीपति अपनी शोषण-नीति न छोड़ देंगे। इसलिए राष्ट्र की मजबूर करनेवाली शक्ति समाजवादी के हाथ में होनी चाहिए, ताकि वह अपनी योजनाओं को पूर्ण करा सके।

यह हिंसा-अहिंसा का प्रश्न इतना मौलिक और इतना व्यापक है कि प्रायः हरेक प्रश्न पर आज गाँधीवादी और समाजवादी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। इस दृष्टि-भेद से काफ़ी संघर्ष पैदा होता है और कभी-कभी काफ़ी कटुता भी। किसान, ज़मींदार, मज़दूर, मिल-मालिक, प्रजा और देशी नरेश इन सबसे सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर दोनों के रुख़ भिन्न-भिन्न रहते हैं। दूसरी तरह अगर इसी बात को कहा जाय, तो यूँ कहना होगा कि समाजवाद और गाँधीवाद का मुख्य भेद हिंसा और अहिंसा है। जहाँतक समाज को अधिक सुन्दर और अधिक सुखमय बनाने का आदर्श है, वहाँतक दोनों वादों में एक ही भावना काम करती है, पर सारा अन्तर तो है साधनों का। गाँधीवाद के सारे साधन अहिंसा और अहिंसा के परिणामों या अभिप्रायों से निश्चित होते हैं, जबकि समाजवाद के हिंसा और हिंसा के जो परिणाम और अभिप्राय होते हैं उनसे।

चाहे तो अहिंसा स्वीकार कर लेने के परिणाम-स्वरूप और चाहे अहिंसा ही हम क्यों स्वीकार करते हैं इस वजह से, अहिंसावादी का एक ख़ास रुख बन जाता है। वह सारी बुराई या उस बुराई का सम्बन्ध जहाँ-तक हमारे से है, उसका मुख्य कारण अपने ही अन्दर देखता है। समाज में जो पाप हैं उनका मूल कारण मनुष्य, उसका स्वभाव, उसकी अपनी प्रवृत्तियाँ और अपनी खामियाँ हैं। इसके अलावा उसका पहला लक्ष्य होता है, उन्हें दूर करने का। चूंकि हमारे अन्दर स्वयं दोष हैं, इससे दूसरों में भी दोषों का होना स्वाभाविक है, इस कारण दूसरों के प्रति उदारता और सहिष्णुता का बर्ताव करना हमारा फ़र्ज़ है। अपनी भूल देखकर जैसे हम उसे दुरुस्त कर लेना चाहते हैं और उसको दुरुस्त कर लेने का प्रयत्न करते हैं, वैसे ही दूसरे भी पसन्द करेंगे और प्रयत्न करना

चाहेंगे। भूल करने में हमारी हानि है, भूल न करने से हमारा ज्यादा लाभ भी है। इसका प्रदर्शन अगर हम खुद अपने आचरण में नहीं करते हैं, तो दूसरों से यह आशा रखनी बेकार है कि वे हमारे उपदेशों से, भूलों से बचेंगे। अपने आचरण द्वारा हम उनपर अधिक प्रभाव डाल सकते हैं, बनिस्बत उस आचरण के अभाव में। उसकी धारणा है कि चरित्रहीन अच्छी-से-अच्छी संस्थाओं द्वारा भी बुराई पैदा करेंगे। इसलिए संस्थाओं के सुधार में जहाँ वह प्रयत्नशील होता है, वहाँ वह यह भी जानता है कि संस्था को सुधारने से ही कोई लाभ न होगा, अगर साथ-साथ हमारा चरित्र भी नहीं सुधरता है। स्वभावतः वह कष्ट सहता है, विरोधी को अपने प्रेम से वश में करना चाहता है, और जिसे ठीक समझता है, उसपर आचरण करता है।

समाजवादी ठीक इसके विपरीत विश्वास करता है। वह संस्थाओं, परिस्थितियों और ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का परिणाममात्र मनुष्य को समझता है। अगर किसी भी तरह ये संस्थायें और परिस्थितियाँ दुरुस्त हो जायँ तो समाज आप-से-आप ठीक हो जायगा। समाज में जबतक परिस्थिति हमारे विपरीत है, तबतक हमारे एक या दो व्यक्ति कर ही क्या सकते हैं ? लिहाज़ा बलपूर्वक इन परिस्थितियों को बदल देना पहला और मुख्य काम है। लोगों के अन्दर विरोध, असन्तोष की भावना को प्रबल करके उन्हें स्थापित प्रणाली के विरुद्ध खड़ा कर देना चाहिए; और अगर वे इसे एक बार पलट देने में सफल हो गये तो फिर यन्त्र की तरह सारा काम ठीक से चलने लगेगा। क्योंकि जो पीड़ित हैं, पद-दलित हैं, वे जब स्वयं अपना प्रबन्ध करेंगे, तो ऐसा कुछ न करेंगे जिससे अपने को कष्ट हो। इसलिए एकमात्र काम है इस स्वर्णयुग का प्रचार, इसकी आशा लोगों में जाग्रत करनी और मौजूदा तन्त्र के विरुद्ध लोगों को भड़काना व विप्लव के लिए तैयार करना।

गाँधीवाद और समाजवाद के सारे भेद इन्हीं दो मौलिक विचार-धाराओं से निस्सरित होते हैं। पर विस्तार से उनपर विचार करना इस

लेख के दायरे से बाहर होजाता है । प्रसंग था, नैतिक सिद्धान्तों को समाजवाद में कहाँ तक स्थान है ? और हमने देखा है कि सत्य, अहिंसा आदि के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं है। इसी तरह त्याग, वैराग्य, संयम आदि के लिए भी सुनिश्चित स्थान नहीं है। गाँधीजी की सादगी, उनकी छोटी धोती आदि को समाजवादी कभी भी श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देख सकता। गाँधीजी के महात्म्य या महात्मापने को वे लोग नहीं समझ पाते। वे तो समझते हैं कि धर्म का नाम और त्यागियों-जैसा वेश लोगों की आँखों में धूल डालने का तरीका है। गाँधी बड़ा चतुर चालाक है। वह जानता है कि इस देश के पुरुष अशिक्षित और गँवार हैं। उनके दिलों में इन चीज़ों के लिए बहुत बड़ा स्थान है। इससे वह इन चीज़ों के नाम से अपनी सारी चालें चलता है। गाँधीजी में सचमुच में कुछ सार भी है, ऐसी कोई शक्ति भी है जो चतुर-से-चतुर मुख़ालिफ़ पर भी प्रभाव डाल लेती है, ऐसा वे स्वीकार नहीं करेंगे। पर हमें यह भी मालूम है, और समाजवादी मित्र ख़ुद भी तसलीम कर लेते हैं कि वह एक बड़ा जादूगर है । जवाहरलालजी पर जो गाँधीजी का असर है, वह ऐसा ही कुछ है।

और यह सब होते हुए भी समाजवादी जवाहरलालजी के त्याग, लेनिन की एकनिष्ठा, उसकी तपस्या की स्तुति करेंगे । इतना ही नहीं, अगर उनसे कहा जायगा कि 'आप लोग नैतिकता को मानते हैं ?' तो वे हाँ कहेंगे। कम-से-कम उनमें जो समझदार हैं, वे जरूर मान लेंगे—गो उनमें से बहुतसे ऐसी किसी चीज़ की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। पर उनमें जो नैतिकता को स्वीकार करते हैं, उनका अर्थ भी क्या है, यह समझ लेना चाहिए। उनका अर्थ है कि समाज के हित के लिए जो-कुछ भी किया जाता है वह सही है और इसलिए जायज़ है। आज जो उचित है वही कल अनुचित होजायगा और आज जो सत्य है वही कल असत्य हो सकता है। इससे सत्य-असत्य, उचित-अनुचित निर्भर करते हैं समाज की आवश्यकताओं पर। इन सिद्धान्तों में स्वयं ही कुछ ऐसा है

SRI PRATAP COLLEGE LIBRARY

जिससे समाज का हित होगा ही—चाहे व्यक्ति-विशेष के आचरण करते समय ऐसा न भी मालूम हो—यह वे नहीं मानते हैं।

और इसलिए सिद्धान्त में एक दर्जे तक इनकी बात सही होते हुए भी वास्तविक जीवन में बहुत ही गलत और सारी नैतिक व्यवस्था को नष्ट करनेवाली होजाती है। समाज का हित-अनहित किसमें है, इसका निर्णय भी तो हरेक व्यक्ति स्वयं ही करेगा। और अगर झूठ बोलकर समाज का हित होता है, तो वह झूठ क्यों न बोले ? चोरी करने से अगर उसकी अपनी समझ में देश का, समाज का, लाभ होगा, तो वह कर्त्तव्यच्युत क्यों हो ? स्वभावतः जो पुरानी नैतिक व्यवस्था है वह सारी तो लोगों के शोषण और पीड़न पर निर्भर करती है। इसलिए वह बुरी है ही। और बुरी चीज़ के जो विपरीत हो वह अच्छी होगी ही। धर्म के, ईश्वर के, नाम से ही इन गरीबों के शोषण का पोषण हुआ है। उसे जायज़ बताया गया है, उसे पवित्रता दी गई है। इसलिए धर्म और ईश्वर का ख़ास तौर से विरोध किया जाना चाहिए।

नतीजा यह है कि आज समाजवादी दायरों में ये चीज़ें अत्यन्त अप्रिय हो उठी हैं। नैतिकता, आध्यात्मिकता आदि चीज़ें हँसी-व्यंग की सामग्री तो होती हैं, पर गम्भीर विचार की नहीं। करोड़ों और अरबों मनुष्यों के सदियों के अनुभवों को इस तरह ठुकरा देने में उन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं होती। ऐसा मालूम होता है कि उनकी राय में सभ्यता का श्रीगणेश ही कार्ल मार्क्स के बाद हुआ।

राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नों पर हरेक व्यक्ति ने अपने अलग-अलग नियम और विधान बनाये, यह आज़ादी वे व्यक्तियों को नहीं देना चाहेंगे। पर जहाँतक नैतिक आचरण का ताल्लुक़ है, मनुष्य को पूर्ण मान लिया जाता है और उसीके हाथ में सारा फ़ैसला छोड़ दिया जाता है। यहाँतक कि उसकी सलाह के लिए कुछ मोटे-मोटे नियम स्थिर कर दिये जायँ, इसकी भी ज़रूरत कभी महसूस नहीं की जाती है। फल यह होता है हरेक समाजवादी व्यक्ति नीतिशास्त्र पर अपनी व्यवस्था देता है। स्वभावतः ये

व्यवस्थायें हमारे नीतिशास्त्र से तो टकराती ही हैं, पर आपस में भी बिना तकल्लुफ़ टकरा जाती हैं और सिवा इसके कि जिसे जो ठीक जँचे वह करे, उन व्यवस्थाओं में कोई समानता नहीं। और इसलिए व्यवहार में 'जो ठीक जँचे' का अर्थ होजाता है 'जो रुचे', 'जिसमें अपनी सुविधा हो', 'अपना स्वार्थ हो', 'जो अपने को प्रिय लगे', 'जिसमें तक़लीफ़ न हो', 'आराम हो', 'आनन्द हो।'

अपनी प्रवृत्तियों की धारा के साथ बहने की यह नीति गाँधीवाद के एकदम विपरीत है। और यहीं सारा विरोध है।

गाँधीवाद मानता है—मनुष्य मूलतः तो पशु ही है। अहंकार, भय, निद्रा, मैथुन आदि जो धर्म उसमें हैं वे पशु होने की हैसियत से उसे मिले हैं; और अगर इस पाशविक धर्म को पूर्ण छूट दे दी जाय, इसे हर पहलू में जायज़ मान लिया जाय, तो हमारे धर्म में और पशुओं के धर्म में कोई अन्तर न रहेगा।

पशुओं और मनुष्यों में ज़रा-सा ही तो भेद है। एक में बुद्धि है और दूसरे में है उसका अभाव। पशु, बुद्धि के अभाव में, स्वभाव से शासित होता है। मनुष्य, बुद्धि के ज़ोर से, अपने स्वभाव पर क़ाबू रखना सीखता है—जहाँ वह समझता है कि स्वभाव के वश आचरण करने से अपना, अपने परिवार—प्रियजनों और इसलिए समाज का, अहित होता है।

मनुष्य ने सदियों के अपने कड़ुवे और मीठे अनुभवों के बाद सीखा है कि सत्य, सरलता, प्रेम, अहिंसा, परोपकार, दया, क्षमा, कर्त्तव्यभावना, त्याग, वफ़ादारी, आदि-आदि नैतिक गुणों को जितना भी अधिक समाज में स्थापित किया जायगा उतनी ही शान्ति--उतना ही सुख समाज में बढ़ेगा। इसके विपरीत अगर हरेक व्यक्ति के स्वार्थ—उसकी अपनी रुचियों और प्रवृत्तियों को निर्बाध छूट दे दी जायगी, तो समाज छिन्न-भिन्न होजायगा और मानव-समाज पशु-समाज से भी नीचे गिर जायगा। क्योंकि पशु जहाँ अपनी असामाजिक कुप्रवृत्तियों में अपने स्वभाव से ही शासित होता है वहाँ मनुष्य अपनी बुद्धि की सहायता से बुराइयों को

चरमसीमा तक पहुँचाने की शक्ति रखता है।

इसके अलावा जबतक भी शासन क़ायम रखने की ज़रूरत है, तबतक यह अनिवार्य है कि कुछ व्यक्तियों के हाथ में अपरिमित अथवा बहुत अधिक शक्ति रहेगी। वे व्यक्ति अपने निजी स्वार्थ में इस शक्ति का दुरुपयोग न करें। इसे रोकने का एकमात्र सम्भव तरीक़ा यही है कि उनमें छुटपन से ही अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर क़ाबू रखने की आदत डाली जाय, और समाज सिर्फ़ ऐसे व्यक्तियों को आगे बढ़ाये और उनपर निर्भर करे और विश्वास करे, जिनमें ये आदतें एक काफ़ी बड़े दर्जे तक पुष्ट होगई हों। समाज ऐसे व्यक्तियों पर अपनी आशाओं के पुल न बाँधे जो इन गुणों का अपने जीवन में कोई सबूत नहीं देते, बल्कि उलटे इन गुणों की अवहेलना करते और उनका मज़ाक उड़ाते हैं। कोई भी विधान, कोई भी तंत्र, शासन के इस दोष को दूर नहीं कर सकता कि कुछ व्यक्तियों के हाथ में हज़ारों दूसरे व्यक्तियों से ज्यादा शक्ति—ज्यादा अधिकार रहे।

इस भारी ख़तरे से मनुष्य की रक्षा तब ही हो सकती है जब शासकों और शासकों को चुननेवालों का चरित्र ही ऐसा हो, इतना उठ जाये कि शासन में यह दोष विद्यमान रहते हुए भी इससे कोई हानि न हो। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दो-चार, दस-बीस या हज़ार-दोहज़ार व्यक्तियों के चरित्रबल से ही समाज सुरक्षित न रह सकेगा। साधारण जनता और समाज का चरित्र भी इतना तो ऊपर उठना ही चाहिए कि उसमें हज़ारों-लाखों का चरित्रबल बहुत ही अधिक हो सके, और वे चरित्रबल वाले व्यक्तियों को ही अपना नेतृत्व दें।

इसलिए गाँधीजी का अधिक-से-अधिक ज़ोर चरित्रबल को बढ़ाने—उसे परिष्कृत करने पर है। जहाँ वह शासन-विधान को बदलने, सुधारने में प्रयत्नशील हैं, वहाँ वह यह भी जानते हैं कि उनके और उनके साथियों के सारे प्रयत्न निरर्थक जायँगे अगर साथ ही समाज का चरित्रबल भी ऊपर नहीं उठता है।

समाजवाद और गाँधीवाद में यही भेद मूल का है; और देश के लिए वह दिन बहुत शुभ होगा जब समाजवादी मित्र चरित्रबल और उसे बढ़ाने की आवश्यकता को स्वीकार करेंगे और गाँधीजी का हाथ बटायँगे।

: १६ :

उपसंहार

संघर्ष या समन्वय ?

[श्री काका कालेलकर]

मुझे डर है कि समाजवाद के साथ तुलना में पड़ने के कारण गांधीजी की कार्य-पद्धति के लिए 'गांधीवाद' नाम रूढ़ होनेवाला है। जितने लोगों ने गांधीजी की दृष्टि और उनकी कार्य-पद्धति को पहचाना है, वे सब हमेशा यह कहते आये हैं कि **'गांधीवाद'** जैसी कोई चीज़ है ही नहीं। स्वयं गांधीजी ने भी अनेक बार लिखा और कहा है कि उन्होंने किसी नये सिद्धान्त का आविष्कार नहीं किया है। सनातन काल से मनुष्य-जीवन और मनुष्य-समाज में जिन सिद्धान्तों और तत्त्वों का मर्यादित क्षेत्र में पालन होता आया है उन्हींको व्यापक और सार्वभौम बनाने की कोशिश वह कर रहे हैं। कौटुम्बिक जीवन में जिन सिद्धान्तों का पालन सफलतापूर्वक किया जाता है उन्हीं तत्त्वों पर व्यापक क्षेत्र में अमल करने की हिम्मत मनुष्य नहीं करता है। क्योंकि मनुष्य के हृदय का विकास आजतक इतना नहीं हुआ है। उसकी श्रद्धा की मात्रा उतनी बढ़ी नहीं है। प्रेम की शक्ति पर मनुष्य का अमर्याद विश्वास बैठाने के लिए जितनी आस्तिकता मनुष्यजाति में चाहिए उतनी उसमें नहीं है। यही पैदा करने का गांधीजी का प्रयत्न है। ऐसी हालत में गांधीजी की दृष्टि और कार्य-पद्धति को 'वाद' का नाम देना सर्वथा अनुचित है। ऐसा होते हुए भी मनुष्य का स्वभाव इतना अनुप्रास-प्रिय है कि समाजवाद के साथ लोग

जब गांधी-मत का उल्लेख करेंगे तब उसे 'गांधीवाद' ही कहेंगे[१]।

गांधी-मत और समाज-सत्तावाद इन दोनों का ही आजकल विशेष बोल-बाला है। इन दोनों ने मिलकर और सब मत और सब 'वाद' पीछे हटा दिये हैं। हमारे देश में तो यही दो मार्ग हैं जिनके प्रति लोगों की कोई ख़ास श्रद्धा है और सम्भव दीख पड़ता है कि सारी दुनिया में भी और वादों का अस्त होकर इन दोनों वादों का ही विचार चलेगा। यूरोप में इस वक्त फ़ासिज्म का बोलबाला सबसे अधिक है। तो भी उसके लिए कोई उज्ज्वल भविष्य नहीं दीख पड़ता। फासिज्म में सामर्थ्य बहुत कुछ है, किन्तु कृतार्थता नहीं है।

गांधी-मत और समाजवाद कहने की अपेक्षा सर्वोदयकारी समाज-व्यवस्था और समाज-सत्तामूलक समाज-व्यवस्था ऐसा शब्द-प्रयोग हम करें तो शायद अच्छा होगा। क्योंकि सर्वोदय शब्द के साथ अहिंसा और सत्याग्रह का भाव आ ही जाता है और समाज-सत्ता के साथ सामाजिक क्रान्तिकारी राजनैतिक शक्ति का भाव भी स्पष्ट होजाता है।

सबसे पहले ध्यान में रखनेलायक बात यह है कि इन दो मतों के आदर्श में बहुत कुछ साम्य है। दोनों को सामाजिक अन्याय असह्य है। दोनों को समता प्रस्थापित करनी है। दोनों 'अर्थ' का अनर्थ देख सके हैं। दोनों क्रान्तिकारी हैं। दोनों में यह श्रद्धा है कि अन्तिम स्थिति में मनुष्य-जीवन के लिए राजनैतिक सत्ता का नाश ही अभीष्ट है। जब मनुष्य सुसंस्कृत और सुसंगठित होगा तब उस पर किसी भी प्रकार का बाह्य नियन्त्रण रखने की आवश्यकता नहीं होगी। राजसत्ता का होना मनुष्य-संस्कृति का अपमान है। जब सब-के-सब सज्जन बन जायँगे अथवा

१. दो वस्तु के बीच जब किसी भी किस्म की संगति नहीं दीख पड़ती तब अंग्रेज़ी में प्रायः कहते हैं—There is neither rhyme nor reason. **यही बताता है कि अगर अनुप्रास मिल जाय तो तर्कशुद्धि की कोई ज़रूरत नहीं। मनुष्य-बुद्धि की बाल्यावस्था का यह लक्षण है।** —लेखक

दुर्जनता का कोई आकर्षण ही नहीं रहेगा तब बिना किसी बाह्य सत्ता के मनुष्य का सामाजिक जीवन अच्छी तरह से चल सकेगा।

अन्तिम आदर्श का जब हम ख़याल करते हैं तब सामान्य जनता दोनों को स्वप्न-सेवी और तरंगी कहती है। और ये दोनों अपनेको तो शास्त्रशुद्ध और व्यवहार-कुशल मानते हैं। गांधीजी अपने को व्यावहारिक आदर्शवादी (Practical Idealist) कहते हैं। और समाजवादी अपनेको पूर्णतया विज्ञानानुयायी।

इतना साम्य होते हुए भी दोनों की कार्य-पद्धति में घोर विभिन्नता है। गांधी-दर्शन मनुष्य की व्यक्तिगत शक्ति के ऊपर अमर्याद विश्वास रखता है। समाज-सत्ता-दर्शन मनुष्य की सामाजिक शक्ति पर ही पूर्णतया आधार रखता है। गांधी-दर्शन सामाजिक न्याय और समता की दृष्टि से एवं आध्यात्मिक और विकास की दृष्टि से जीवन की सादगी को अनिवार्य समझता है। दूसरा मत इसके विपरीतहै। मनुष्य अपनी आवश्यकतायें बढ़ाकर भी सामाजिक न्याय को प्रस्थापित कर सकता है और मानवी विकास के लिए साधन-समृद्धि बाधक नहीं वरन् अत्यंत पोषक है, ऐसा उसका विश्वास है।

समाजदर्शन का झुकाव सत्ता, सम्पत्ति और लोक-वस्ती केन्द्रित करने की ओर है। इधर गाँधी-दर्शन में जहाँतक हो सके सत्ता का निर्मूलन करना ही अभीष्ट है। सम्पत्ति वर्षा की बूंदों के समान समाज के सब व्यक्तियों के हाथ में बिखेरी जाय, यही इसमें हितकर मानते हैं। और जनसंख्या भी बड़े-बड़े शहरों और कल-कारख़ानों में भीड़ कर बसने की अपेक्षा गांवों में अपनी-अपनी ज़मीन पर अलग-अलग बाड़ी बनाकर रह जाय तो उसे अच्छा समझते हैं।

दोनों पक्ष जबर्दस्त मिशनरी वृत्ति के हैं। तो भी गांधीजी व्यक्तियों के जीवन में परिवर्तन करके उसीके द्वारा सामाजिक जीवन को बदलना चाहते हैं। और समाजवादी व्यक्तियों की राय में परिवर्त्तन करके उसका असर राजसत्ता पर डालकर उसीके क़ानून द्वारा समाज-व्यवस्था में एक

ही साथ क्रान्ति कराना चाहते हैं। वे कहते हैं—जबतक बहुतों का विचार परिवर्तन नहीं होगा तबतक क़ानून में परिवर्तन नहीं होगा। जिनके पास सम्पत्ति, सामर्थ्य और सत्ता है उनमें उसे छोड़ने की बुद्धि जागृत होना नामुमकिन है। थोड़े लोग साधुत्व के आदर्श से वैराग्य से अथवा समाज-सेवा की इच्छा से धन और सत्ता छोड़ दे सकते हैं; किन्तु सारे समाज में ऐसे लोगों का बहुमत मिलना असम्भव है। इसलिए जिनके पास सत्ता और सम्पत्ति नहीं है उन्हींको जागृत करके उनके बहुमत के सामर्थ्य का लाभ उठाकर क़ानूनों में परिवर्तन करना चाहिए और राजसत्ता अकिंचनों के हाथ रखनी चाहिए और एक बार अकिंचन सत्ताधारी हो गये तो फिर तमाम सम्पत्ति और उसे पैदा करने के साधन धनियों के हाथ से छीनकर सारे समाज के हाथ में सौंप देना आसान है। यही व्यवहार का मार्ग है। अगर यह इन्क़िलाब धनी लोग स्वाभाविकता से होने देंगे, तो उसमें हिंसा का कोई कारण ही नहीं है। किन्तु यदि धनी लोग बहुमत के अधीन नहीं होंगे और गरीबों की सत्ता के विरुद्ध षड्यन्त्र करते रहेंगे तो उनका दमन और शासन हिंसा द्वारा भी करना पड़ेगा। यही समाज-दर्शन की भूमिका है। अगर बहुमत की बात सर्वमान्य होजाय तो बिना रक्तपात किये क्रान्ति आसानी से की जा सकती है, किन्तु जब सत्ताधीश और धनपति ऐसे परिवर्तन को परास्त करने के लिए प्रति-क्रान्ति करने की कोशिश करते हैं तब घोर रक्तपात की नौबत पहुँच जाती है और उसकी जिम्मेदारी उन्हींके सिर पर है जो बहुमत का विरोध करते है। यह है भूमिका समाज-दर्शन की।

इस भूमिका के मूल में यह विचार निर्विवाद है कि बहुमत की सत्ता के लिए कोई मर्यादा ही नहीं है। अपनी मेहनत से पाये हुए धन पर व्यक्ति की जो अबाधित सत्ता आज मानी जाती है और उसकी पवित्रता की घोषणा की जाती है उस पर समाजवादियों का तनिक भी विश्वास नहीं है। वे कहते हैं कि सम्पत्ति का निर्माण सामाजिक सहकार के बिना हो ही नहीं सकता। इसलिए यह सम्पत्ति सामाजिक चीज़ है। हवा और

पानी पर जिस तरह किसी व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं, उसी तरह हर तरह की सम्पत्ति पर किसीका भी व्यक्तिगत अधिकार नहीं है। और जिस तरह सामान्यतया हवा और पानी हरेक को चाहे जितना ले लेने का अधिकार है उसी तरह जब समाज-सत्ता प्रस्थापित होगी और विज्ञान के सहारे अन्न-वस्त्रादि सब वस्तुयें सामाजिक सहयोग से पैदा की जायंगी, तब उनकी भी बहुतायत हवा-पानी के जितनी नहीं तो काफ़ी तो हो ही जायगी। फिर तो किसी को चोरी करने की इच्छा ही नहीं रहेगी। और श्रम टालने की वृत्ति भी लोगों के हृदय में नष्ट हो जायगी। जिस हद तक परिश्रम आनन्ददायी होता है उसी हद तक काम करने से ही मनुष्य समाज की ज़रूरतें पूरी हो जायंगी।

यह अंतिम आदर्श बड़ा सुहावना मालूम देता है और साथ-साथ यहां तक हम कैसे पहुँच सकते हैं ऐसी शंका भी मन में आ जाती है।

समाजवाद के नाम से इतनी अनेकानेक योजनायें दुनिया के सामने रक्खी गई हैं और इतने भिन्न-भिन्न प्रयोग भी जगह-जगह किये गये हैं कि उनके बारे में एक सर्वसामान्य चित्र खींचना कठिन है। कई योजनाय सौम्य हैं, कई अत्यन्त कड़ी हैं। अगर इनके तारतम्य भेद देखकर इनकी श्रेणियां बनाई जायं तो इनमें कम-से-कम तीन सप्तक तो मिल ही जायंगे।

और भी कई बातें इस तुलना में ध्यान में रखनी चाहिएं। गांधी-दर्शन के सिद्धान्त स्पष्टतया शब्द-बद्ध नहीं हुए हैं। गांधीजी का यह तरीक़ा ही नहीं है। किसी प्रसंग को समझाने के लिए ही वह तत्त्व-चर्चा करते हैं। और प्रसंग उपस्थित होने के बाद ही अपने इष्ट-देवता सत्य-अहिंसा से तत्त्व-निर्णय पूछ लेते हैं और उससे जो जवाब मिलता है उसका अनन्य निष्ठा से पालन भी करते हैं। इसलिए गांधी-दर्शन के सिद्धान्त स्वतन्त्रतया तात्त्विक रूप में लिखे हुए नहीं पाये जाते हैं।

इसके विरुद्ध समाजवाद में सिद्धान्त-चर्चा की प्रचुरता है। किन्तु आज के लिए, गांधीजी के जैसा, तुरंत का कार्यक्रम कहीं भी स्पष्टतया नहीं

पाया जाता। ऐसी विषम स्थिति में इन दोनों के बीच तुलना करना कठिन है। और मुकाबला तो हो ही नहीं सकता। मुकाबला करने के लिए सामान भूमिका कहीं भी नहीं पाई जाती है।

दोनों पक्ष को एकसाथ काम करते देखने की जिनकी तीव्र किन्तु भोली अभिलाषा है, वे दोनों के बीच जो आदर्श-भेद और साधन-भेद है, उसे ढकने की कोशिश करते हैं। अगर ये दो पक्ष पूर्णतया पारमार्थिक (In dead earnest) नहीं होते तो दोनों भी मान जाते कि दोनों में विशेष मतभेद नहीं है। जो दोनों को जानते हैं उनके लिए यह बात स्पष्ट है कि दोनों के बीच जो भिन्नता है वह तात्विक है, मौलिक है, तीव्र है और अटल है। इन दोनों के बीच सहयोग हो सकता है; किन्तु कुछ काल के लिए ही। थोड़ा आगे जाते हुए दोनों के बीच कभी-कभी संघर्ष और संग्राम अवश्य होने वाला है।

संग्राम का ख़याल मन में उठते ही कल्पना उसका चित्र खींचना चाहती है; क्योंकि यह संग्राम अपूर्व और अद्भुत होगा। समाज-दर्शन की संग्राम-पद्धति एकदम नवीन और बहुरूपी है और उसमें किसी भी किस्म का परहेज़ नहीं है।

इधर गाँधीजी की—गाँधी मार्ग की—संग्राम की पद्धति भी अजीब है। गाँधीजी के साथ लड़ना मानों पानी के साथ लड़ना है। पानी दीख पड़ता है निराग्रही; किन्तु है अटल जीवन-धर्मी। उसे गरम करो, भाप होकर अदृश्य हो जायगा; किन्तु हवा में तुरन्त क्रान्ति कर देगा। उसे हद से अधिक ठंडा करो, वह पत्थर के जैसा मज़बूत बनेगा और मामूली मौलिक नियमों को तोड़कर अपना आकार भी बढ़ा लेगा। काटने से वह टूटता नहीं, जलाने से नष्ट नहीं होता। सचमुच गाँधीजी की युद्ध-पद्धति दैवी है। जब समाजवाद और गाँधी-दर्शन के बीच संघर्ष शुरू होगा तब स्वर्ग के देव विमानों में बैठ-बैठ कर हाथ में मालाएँ लेकर बिना पलक हिलाए उसे देखते रहेंगे।

समाजवाद का विरोध करने वालों में ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिन्हों-ने समाजवाद का मूलग्राही अध्ययन किया हो।

समाजवादियों पर इलज़ाम लगाया जाता है कि वे केवल शब्दशूर हैं—बोलते हैं, लेकिन कुछ करते नहीं।

हमारे देश के लिए शायद यह सही होगा, किन्तु समाजवाद की तात्विक भूमिका अन्य वादों से कम ठोस नहीं है। अन्यान्य देशों में वहाँ के प्रखर कर्मयोगियों ने समाजवाद के असंख्य छोटे-मोटे प्रयोग किये हैं। रूस में समाजवाद को सफलता भी अच्छी मिली है।

इधर हिन्दुस्तान के समाजवादियों में भी ऐसे लोग मौजूद हैं जिन्होंने समाजवाद पर ईमान लाने के पहले गाँधीदल में रहकर गाँधीमत का प्रचार किया है, ठोस काम किया है और औरों के साथ बलिदान में भी शरीक हुए हैं। ऐसे लोगों के समाजवादी होते ही उनकी हँसी उड़ाने से लाभ नहीं है। हँसी उड़ाकर समाजवाद को हम उड़ा सकें, इतना वह पोला या हलका नहीं है।

इन दो दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन करने में और भी एक कठि-नाई सामने आती है। यद्यपि यह मानना होगा कि गाँधीजी स्वयं अपने ढङ्ग के असाधारण और सफल प्रचारक हैं; उनका प्रचार, संकल्प, वाणी और क्रिया तीनों ढङ्ग से चलते हैं और वे प्रतिपक्षी को जीतने में भी कुशल हैं, तो भी यह बात निर्विवाद है कि गाँधी-पक्ष अक्सर प्रचार-विमुख है। स्वयं गाँधीजी ने इस प्रचार-विमुखता को उत्तेजन दिया है।

इसके विरुद्ध-समाजवादी दल में केवल प्रचार-ही-प्रचार है। प्रति-पक्षियों के साथ और अपने पक्ष के अन्दर भिन्न-भिन्न राय रखने वाले सपक्षियों के साथ चर्चा करते वे कभी थकते ही नहीं।

अब इन दोनों के कार्य का असर जनता के हृदय पर कैसा पड़ता है, यही हम देख लें तो सामान्यता कह सकते हैं कि सामान्य लोगों को सुनने में तो समाजवाद अधिक प्रिय लगता है; किन्तु वे गाँधीपंथ की छत्र-छाया में अपने को अधिक सुरक्षित पाते हैं।

आजकल के ज़माने में दैनिक, मासिक आदि वृत्तिविवेचन के द्वारा दत्त्वचर्चा बहुत कुछ होती है, तो भी परमार्थ से सोचने वाले लोग न तो तत्त्वविवेचकों में मिलते हैं, न उनके पाठकों में। आजकल लोग अपनी मेहनत से विचार करना मानों भूल गये हैं। लोग विचार करने की अपेक्षा कपड़े की तरह विचार ओढ़ने के ही आदी बन गये हैं।

इसका इलाज एक ही है। दोनों पक्ष के विचार पास-पास लाकर लोगों के सामने रख देने चाहिएं। जहाँतक मैं जानता हूँ इसी उद्देश्य से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के विचारों का यह संग्रह प्रकट किया गया है। प्रकाशकों ने मुझे इस संग्रह का सम्पादक नियुक्त किया है; किन्तु लेखकों की और लेखों की पसन्दगी प्रकाशक की ही है। इस पसन्दगी पर अपनी सम्मति देने का काम मेरा नहीं है। चुनाव तो अच्छा ही हुआ है। जिन-जिन लोगों को प्रकाशकों ने पूछा वे सब के सब यदि सहयोग देते तो इस संग्रह की उपयोगिता और बढ़ जाती।

रिवाज कहता है कि लेख और लेखकों का चुनाव जो करे उसीको सम्पादक समझना चाहिए। मूल संकल्प में मुझ पर भार केवल भूमिका लिखने का था; वह मैं नहीं कर पाया। अब लगता है, यह अच्छा ही हुआ। हमें श्रद्धेय राजेन्द्र बाबू की भूमिका मिली; पर भूमिका न लिखने से मेरा छुटकारा नहीं हुआ। उपसंहार लिखने का भार मुझपर आ पड़ा है। आशा करता हूँ, यह उपसंहार सामान्य वाचकों के लिए बिलकुल दुर्बोध नहीं होगा।

जो लोग विचार करना पसन्द नहीं करते और केवल तैयार माल ओढ़ लेने की जिनकी आदत है, वे मुझसे अपेक्षा करेंगे कि मैं दोनों पक्ष की तुलना करके दोनों का समन्वय कर बताऊँ, अथवा कम-से-कम न्याय-तुला हाथ में लेकर न्यायाधीश के जैसा अपना निर्णय सुना दूँ।

किन्तु मेरी इच्छा ही नहीं कि मैं ऐसा कुछ करूँ। ऐसा निर्णय देने से किसी का कुछ लाभ भी नहीं होगा। आखिरकार गाँधी-दर्शन और समाज-

दर्शन के बीच समन्वय तो अवश्य होगा; किन्तु याद रहे कि समन्वय करने का काम आख़िरकार दिमाग़ का नहीं, जीवन का है।

इस समन्वय की क्या-क्या शर्तें हैं, वे भी देखनी होंगी। जब लेनिन का बड़ा भाई फाँसी पर चढ़ रहा था तब उत्कटता से सोचने वाले लेनिन को उसी वधस्थान पर साक्षात्कार हुआ कि आंतकवाद से देश का उद्धार होने वाला नहीं है। अहिंसा का वह साक्षात्कार नहीं था, किन्तु लेनिन ने प्रत्यक्ष देखा कि वैयक्तिक खून करने और आंतक ज़माने के प्रकार विफल हैं। उसने देखा कि आर्थिक क्रान्ति और Mass action ही सर्वसमर्थ इलाज हैं। उसकी नसीहत जब रूस ने मान ली तभी रूस 'रशिया' विजयलक्ष्मी की कृपादृष्टि पा सका।

लेनिन को एक साक्षात्कार हुआ। मेरी कल्पना है कि हिन्दुस्तान में समाजवाद को दूसरा साक्षात्कार आहिस्ते-आहिस्ते हो रहा है। यह मेरा केवल दृष्टिभ्रम हो सकता है, लेकिन मैं तो उसके स्पष्ट चिह्न देख रहा हूँ।

हिन्दुस्तान में समाजवाद को अहिंसा का साक्षात्कार कणशः और क्षणशः हो रहा है। समाजवाद ने अगर अहिंसा का तत्व समझ लिया तो समन्वय की बहुत कुछ तैयारी हो चुकी।

आजकल का इतिहास हमें बतलाता है कि हिंसा के डर से न तो दुर्जन अपनी दुर्जनता से बाज़ आये हैं, न सज्जनों ने कायर होकर अपने सत्पथ को कभी छोड़ा है। हिंसा जैसी निर्वीर्य चीज़ दूसरी है ही नहीं।

और यूरोप में अब जो हिंसा का महोत्सव जम रहा है वह अभी हमें बताता है कि कम-से-कम हमारे लिए हिंसा मार्ग नहीं है। हिन्दुस्तान जैसे समृद्ध राष्ट्र को सदियों से लूटकर इंग्लैंड ने जो फौजी तैयारी की है उतनी तैयारी निस्सत्व हम सैंकड़ों वर्षों की तैयारी के बाद भी बता नहीं सकेंगे। और इंग्लैण्ड के पास इतनी तैयारी होते हुए भी इंग्लैण्ड जिसतरह जर्मनी इटली के सामने काँप रहा है, उसे देखते हुए कोई भी विचारशील मनुष्य हिन्दुस्तान में हिंसा के मार्ग से विजय पाने की आशा नहीं कर सकेगा। अगर हमने हिंसा का आश्रय लिया तो या तो चीन और स्पेन जैसी हमारी गति

होगी अथवा सुन्द-उपसुन्द की नाईं हम आपस में एक दूसरे को काट मरेंगे। अहिंसा पर जिनका विश्वास नहीं बैठता है वे भी अब हिंसा पर विश्वास करने की हिम्मत नहीं करते हैं। जगत की परिस्थिति ही हिन्दुस्तान के समाजवादियों को अहिंसा की शिक्षा दे रही है।

समन्वय की दूसरी शर्त है साधन शुद्धि की, जिसे गाँधीजी सत्य के नाम से पहचानते हैं। बहुत से लोगों को गाँधीजी का यह आग्रह अखरता है। साधन-शुद्धि पर विश्वास करनेवाले लोग भी अक्सर मानते हैं और कभी-कभी कहते हैं कि 'गाँधीजी साधन-शुद्धि के आग्रह में अतिरेक करते हैं। इस अपूर्ण दुनिया में एक ही किस्म के साधन से काम नहीं चलता है। अगर तात्कालिक फल चाहिए तो भले-बुरे सब साधनों का व्यवहार करना पड़ेगा। अनैसर्गिक आहार-व्यवहार रखनेवाले लोगों के बीमार पड़ने पर नैसर्गिक उपचार से ही काम कैसे चलेगा? एक दिन में बुखार बन्द कराके अगर इम्तहान में बैठना है या काम पर जाना है तो वहाँ लंघन-चिकित्सा काम में नहीं आयेगी। वहाँ तो बीस-बीस ग्रेन कुनेन भी लेनी पड़ेगी। बुखार से बरी होने के बाद दूध और नींबू लेकर कुनेन का बुरा असर धीरे-धीरे दूर किया जा सकता है। जिसे तुरंत फल-प्राप्ति चाहिए उसे साधन-शुद्धि का अति आग्रह नहीं रखना चाहिए।'

गाँधीमत और समाजवाद के बीच जो संघर्ष होनेवाला है वह शायद इसी बात पर होगा। उस समय गाँधीमत को मानने वालों की पूरी-पूरी कसौटी होगी।

यहाँ पर भी ईश्वर की कहें या इतिहास-घटना की कहें, व्यवस्था ही ऐसी है कि हिन्दुस्तान मलिन साधनों से आगे बढ़ नहीं सकेगा। जबतक हमारा पाप शाप का रूप धारण करके हमारे सामने खड़ा है तबतक मलिन साधनों से राष्ट्र को फायदा पहुँचने की बजाय विनाशक पापों को ही बल पहुंचेगा। हरिजनों का प्रश्न, हिन्दू-मुसलमानों की समस्या, हमारा सामामाजिक उच्च-नीचभाव और धूर्त साम्राज्य की पकड़ को, मज़बूत करनेवाली हमारी राजनैतिक नादानी, यह सब हिन्दुस्तान के पुराने पाप हैं।

इनका शाप हिन्दुस्तान को घेरे हुए है। क़हीं भी मलिनता का संग्रह किया तो ये दोष बढ़ेंगे ही। और अन्त में साधन-शुद्धि का महत्व राष्ट्र के सामने सिद्ध हो जायगा।

समाजवाद जब अहिंसा और साधन-शुद्धि की दीक्षा लेगा तब उसे सत्याग्रह का किसी-न-किसी रूप में दर्शन हो ही जायगा। आज के सत्याग्रह में शायद कुछ अन्तर होगा; किन्तु उसमें समाजवादी और गाँधीवादी दोनों दल सम्मिलित हो जायँगे और उनके जीवन द्वारा हमें इन दोनों का समन्वय सिद्ध करने का रास्ता मिल जायगा। साधन-शुद्धि और अहिंसा की बुनियाद पर यह जो समन्वय खड़ा होगा वह स्थायी और कल्याणकारी होगा।

किन्तु आज हम उस समन्वय की आशा नहीं कर सकते हैं। आज तो दोनों के बीच एक समझौते की ही हम अपेक्षा करते हैं।

मेरे ख्याल से समाजवादी लोग अपना दल बनाकर काँग्रेस में आये सो तो ठीक हुआ। जो लोग प्रत्यक्ष कार्य में और राजनैतिक संस्थाओं में शरीक नहीं होते उनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं देता है। इसलिए विचार-प्रचार के लिए राजनीतिक संस्थाओं में घुस जाना ज़रूरी होता है; किन्तु काँग्रेस की कार्यवाही में शरीक होने में उन्होंने जल्दबाज़ी की; समाजवादियों के पास जो कार्यक्रम है, वह स्वराज-प्राप्ति के बाद ही काम आ सकता है। स्वराज प्राप्ति के लिए तो काँग्रेस की शक्ति बढ़ानी, विभिन्न दलों में काम-चलाऊ एकता स्थापित करनी, यही परमोच्च कर्तव्य है। काँग्रेसी ढंग से ही स्वराज प्राप्ति का कार्य चलाने में सहायक बनकर समाजवादी अगर अपनी उपयोगिता सिद्ध करें और ऐसा करके काँग्रेस पर कब्ज़ा करें और स्वराज-प्राप्ति के बाद आगे के समाज-सङ्गठन में अहिंसा और साधन-शुद्धि से परिपूर्ण कार्यक्रम अमल में लायें तो उनके लिए यह सबसे उत्कृष्ट नीति होगी। स्वातन्त्र्य-युद्ध में जिस क्षण हम विजय पायँगे उस समय देश में बहुत-कुछ विचार परिवर्त्तन हुआ हम देखेंगे। स्वतन्त्रता की साधना राष्ट्र के लिए सबसे बड़ी दीक्षा

है। उसमें सब हीनता भस्म होकर राष्ट्र में जो-कुछ स्वर्ण हो, वही चमकने लगता है।

मुझे आशा है कि समाजवादी अब धीमे-धीमे समझ गये होंगे कि गाँधीजी का विरोध करते-करते उन्होंने राष्ट्र को क्षीण और प्रतिगामी तत्त्वों को मज़बूत किया है। स्वराज-प्राप्ति तक हम दोनों का साथ-साथ चलना अनिवार्य है। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के बाद अगर आन्तरिक क्रांति करने की बात रह गई तो समाजवाद उस कार्य को अपने हाथ में ले सकता है। उसके पहले करने की राजनैतिक क्रांति तो गाँधीजी की बताई हुई काँग्रेस की नीति से ही हो सकती है। इसलिए आज तो दोनों को हार्दिक समझौता करके देश की शक्ति ही बढ़ानी चाहिए।

यह समझौता अगर काफ़ी दिन तक चला और दोनों ने धैर्य के साथ काम लिया तो दोनों दलों के विचारों में, और कार्य-पद्धति में काफी परिवर्तन हो जायगा। समाजवादी दल अगर गाँधीजी की और काँग्रेस की शक्ति को नष्ट नहीं करेगा, तो काँग्रेस उसी के हाथ में जानेवाली है और अगर, जैसी कि मुझे उम्मीद है, दोनों दल एक-दूसरे से बहुत-कुछ सीख लेंगे तो—संघर्ष की जगह स्थायी समन्वय सिद्ध हो जायगा।

———————

१. समाजवाद : पूँजीवाद (प्रकाशित हो गई)

२. यंत्र की मर्यादा

३. हम गुलाम कैसे बने ?

४. हम वैभवशाली हैं या गरीब

५. राष्ट्रीय गीत

(शीघ्र ही प्रकाशित होंगी)

★